

दयानन्दसन्देश

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट का मासिक पत्र

नवम्बर २०१७

Date of Printing = 05-11-17

प्रकाशन दिनांक= 05-11-17

वर्ष ४७ : अङ्क १

दयानन्दाब्द : १६३

विक्रम-संवत् : कार्तिक-मार्गशीर्ष, २०७४

सृष्टि-संवत् : १,६६,०८,५३,११८

संस्थापक : स्व० ला० दीपचन्द आर्य

प्रकाशक व

सम्पादक : धर्मपाल आर्य

सह सम्पादक : ओम प्रकाश शास्त्री

व्यवस्थापक : विवेक गुप्ता

कार्यालय :

दयानन्दसन्देश (मासिक)

४२७, मन्दिर वाली गली, नया बांस,

खारी बावली, दिल्ली-६

दूरभाष : २३६८५५४५, ४३७८११६१

चलभाष : ६६५०५२२७७८

E-mail : aspt.india@gmail.com

एक प्रति ५.०० रु०

वार्षिक शुल्क ५०) रुपये

आजीवन सदस्यता ५००) रुपये

विदेश में २०००) रुपये

इस लेख में

☐ शास्त्रार्थ	२
☐ वेदोपदेश	३
☐ दीपावली	४
☐ छान्दोग्योपनिषद् की कथा	६
☐ आर्यों का संघर्ष व बलिदान-१	६
☐ सत्य और अहिंसा....	१३
☐ कुछ विशेष तिथियां	१६
☐ आस्तिक और नास्तिक	१७
☐ क्या महर्षि दयानन्द का अलभ्य.....	२०
☐ आर्य एवं दीपावली का सन्देश	२६

विशेष : दयानन्द सन्देश में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं। उनसे सम्पादक की पूर्णतया सहमति आवश्यक नहीं है। अतः किसी भी चर्चा/परिचर्चा एवं वाद-विवाद के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी होंगे।

सत्यार्थप्रकाश

प्रचार संस्करण

—

३००० रुपये सैकड़ा

स्पेशल (सजिल्द)

—

५००० रुपये सैकड़ा में प्राप्त करें।

शास्त्रार्थ

विषय	: क्या ईश्वर का अवतार होता है?
प्रधान	: श्री मास्टर बोधराज जी
दिनांक	: 20, 21 दिसम्बर सन् 1919 (दिन के दो बजे)
शास्त्रार्थ कर्ता	: शास्त्रार्थ महारथी श्री ठाकुर अमर सिंह जी 'आर्य पथिक' वर्तमान महात्मा अमर स्वामी जी महाराज एवं सनातन धर्मियों की ओर से : श्री पं. गोकुल चन्द जी शास्त्री

सितम्बर २०१७ से आगे

आर्यसमाज में जब शास्त्रार्थों का युग था, तब गैर आर्यसमाजी लोग आर्यसमाज में आते व बड़े चाव से हमारी बात सुनते थे। इसी बात को ध्यान में रखकर हमारे विद्वानों के शास्त्रार्थों में से एक शास्त्रार्थ का प्रसंग यहाँ उद्धृत किया जा रहा है।

-सम्पादक

यह सुनते ही भैरव ने एक हाथ से केश पकड़कर वह ब्रह्मा जी का पांचवा असत्य भापी सिर काट, हाथ से स्फुरायमान होते हुए खड़ग से उनके और भी सिर काटने की इच्छा की। तब तुम्हारे पिता ब्रह्मा जी गहने-माला और उत्तरीय वस्त्र त्याग केश खोले हुए हवा चलने से केले और और बेल के समान कम्पित होकर भैरव जी के चरण कमल में गिर पड़े। ब्रह्माजी की यह दशा देखते ही, विष्णु जी ने हमारे स्वामी के चरण कमलों में अश्रुमोचन करते-करते हाथ जोड़कर कहा। जैसे बालक, पिता से कहते हैं। उन्होंने कहा -

त्वया प्रसन्नेन पुराहिदत्तं यदीश पञ्चाननमीश चिन्हम्।

तस्मात्क्षमस्यवाद्यमनुग्रहार्हं कुरु विधाये ह्यमुष्यै॥७॥

शिवपुराण विद्ये० सं १ अध्याय ८ भाषा टीका पृष्ठ १३ वैक्टेस्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित)

अर्थ-

विष्णु बोले- हे भगवान! प्रथम आपने कृपा करके इनको पांच सिर दिये थे। अब एक जाता रहा, इस कारण क्षमा करके ब्रह्माजी पर प्रसन्नता करो। विष्णु जी की निन्दा तो आपने अभी सुनी है। विष्णु जी ने निन्दा से व्यभिचार किया, उसके पति जालन्धर का रूप बनाकर धोखे से उसका पतिव्रत धर्म नष्ट किया। विष्णु ने नृसिंह बनकर शिव के भक्त हिरण्यकश्यप का वध किया, तो उसके दण्ड स्वरूप शिवजी ने नृसिंह को पटक-पटककर मारा, और उसकी खाल उतार ली, शिवजी के चित्रों में शेर का चमड़ा पहने हुए उनको अब भी दिखाया जाता है। और शिवजी के गले में कभी-कभी एक नर मुण्डों की माला दिखाई जाती है। उसके बीच में नृसिंह का भी मुख दिखाया जाता है।

शास्त्री जी! आप निम्न पते पर पूरे विस्तार से देख सकते हैं।

“शिवपुराण शत रुद्र संहिता” ३। अध्याय १२, श्लोक १ से ३६ तक।

शिव पुराण में शिवजी का नंगे होकर ऋषि-पत्नियों के सामने जाना लिखा है। ऋषियों के शाप से शिवजी की मूत्रेन्द्रिय टुकड़े-टुकड़े होकर भूमि पर गिर गयी-देखिये-शिव पुराण कोटिरुद्रं सं. अ. ११ श्लोक ६ से १६ तक।

शिवजी ने महानन्दा नाम वाली वेश्या से समागम किया-देखिये-

शेष पृष्ठ २७ पर

वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है। — महर्षि दयानन्द

वेदोपदेश— विद्वानों के संग से सब मनुष्य ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद के तुल्य प्रशंसनीय वाणी, प्राण आदि अर्थात् सत्तरह तत्वों से युक्त लिङ्ग शरीर सबल स्वस्थ और समर्थ बनायें। दध्यङ्ङार्थवर्णः ऋषिः। अग्निः (विद्वान्) देवता। पङ्क्तिः छन्दः। पञ्चमः स्वरः॥ अथ विद्वत्सङ्गेन किञ्जायत इत्याह॥ इस अध्याय के प्रथम मन्त्र में विद्वानों के सङ्ग से क्या होता है, इस विषय को कहते हैं।

ओ३म्—ऋच वाचं प्र पद्य मनो यजुः प्र पद्य सामं प्राणं प्र पद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्र पद्य। वागोजः सहौजो मयि प्राणापानौ॥ यजु० ३६/१।

पदार्थः—(ऋचम्) प्रशंसनीयम् ऋग्वेदम्। (वाचम्) वाणीम् (प्रपद्ये) प्राप्नुयाम्। (मनः) मननात्मकं चित्तम् (यजुः) यजुर्वेदम् (प्रपद्ये) (साम) सामवेदम् (प्राणम्) (प्रपद्ये) (चक्षुः) चक्षे पश्यति येन तत् (श्रोत्रम्) श्रणोति येन तत् (प्र पद्ये) (वा गौजो) वाक् मानसं बलम् (सह) (ओजः) शारीरं बलम् (मयि) आत्मनि (प्राण-अपानौ) प्राणश्चापानश्च तावुच्छवासनिःश्वासाँ।

सपदार्थान्वयः—हे मनुष्याः। यथा मयि (प्राणापानौ) प्राणश्चापानश्च तावुच्छवासनिःश्वासाँ दृढी भवेतां मम वाणी (ओजः) मानसं बलम् (प्र पद्ये) प्राप्नुयात् तथा तया ताभ्यां च सह अहम् (ओजः) शारीरं बलम् प्राप्नुयाम् (ऋचम्) प्रशंसनीयम् ऋग्वेदं (वाचं) वाणीम् (प्रपद्ये) प्राप्नुयाम् (मनः) मननात्मकं चित्तम् (यजुः) यजुर्वेदम् (प्रपद्ये) प्राप्नुयाम् (साम) सामवेदं (प्राणं) (प्रपद्ये) प्राप्नुयाम्। चक्षुः चक्षे = पश्यति येन तत् (श्रोत्रं) श्रणोति येन तत् (प्रपद्ये) प्राप्नुयाम् तथा यूयमेतानि प्राप्नुत॥

भाषार्थः—हे मनुष्यो! जैसे (मयि) मुझ में (प्राणापानौ) प्राण=उच्छवास, अपान=निश्वास दृढ़ हैं, मेरी (वाक्) वाणी (ओजः) मानसिक बल को प्राप्त

करती है, उस वाणी और उन प्राण-अपान से मैं (ओजः) शारीरिक बल को प्राप्त करता हूँ (ऋचम्) प्रशंसनीय ऋग्वेद की (वाचम्) वाणी को (प्रपद्ये) प्राप्त करता हूँ। (मनः) मननात्मक चित्त रूप (यजुः) यजुर्वेद को (प्रपद्ये) प्राप्त करता हूँ (साम) सामवेद रूप (प्राणम्) प्राण को (प्रपद्ये) प्राप्त करता हूँ, वैसे तुम इन्हें प्राप्त करो।

भावार्थः—अत्र वाचक लुप्तोपमालङ्कारः। हे विद्वानो! युष्मत्सङ्गेन मम ऋग्विष्य प्रशंसनीयावाग् यजुरिव मनः साम इव प्राणः सप्तदश तत्वात्मकं लिङ्गं शरीरं च स्वस्थं निरुपद्रवं समर्थं भवतु।

भावार्थः—इस मन्त्र में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है। हे विद्वान् लोगो! आपके संग से मेरी ऋग्वेद के तुल्य प्रशंसनीय वाणी, यजुर्वेद के तुल्य मन, साम के तुल्य प्राण और सत्तरह तत्वों से युक्त लिङ्ग शरीर स्वस्थ, उपद्रव रहित एवं समर्थ हो।

(“दयानन्द-यजुर्वेद-भाष्य-भास्कर” से उद्धृत, व्याख्याता-स्मृतिशेष श्री आचार्य सुदर्शनदेव)

दीपावली

(धर्मपाल आर्य)

दीपावली दीपों का त्यौहार है, जिसे न केवल हमारे देश में, अपितु विदेशों में भी बड़ी धूमधाम और हर्षोल्लास के साथ मनाया जाता है। किंवदन्ती के अनुसार आज के दिन श्रीराम के वनवास की अवधि पूर्ण करने के बाद अयोध्या लौटने पर अयोध्यावासियों ने घी के दीप जलाकर उनका स्वागत और अभिनन्दन किया था। इसमें कोई दो राय हो ही नहीं सकती कि जब पूरी अयोध्या की आँखों के तारे और दुलारे भगवान श्रीराम अयोध्या आए होंगे, तो अवश्य ही घी के दीप जले होंगे। परन्तु रामायण का अध्ययन करने के पश्चात् उपर्युक्त प्रकरण (कि श्रीराम वनवास की अवधि पूर्ण कर लौटे थे, तो उस खुशी में दिवाली मनायी जाती है) सही नहीं बैठता क्योंकि उस हिसाब से तो दीपावली का पर्व हमें चैत्र-वैशाख में मनाना चाहिए। वाल्मीकि रामायण के अनुसार जब आश्विन माह में रावण का वध हुआ ही नहीं, तो कैसी विजयादशमी? जब आश्विन मास की दशमी विजयादशमी नहीं, तो फिर उस (दशमी) के बीस दिन बाद श्रीराम का अयोध्या-आगमन भी सम्भव नहीं, जिसे हम दीपावली के नाम से मनाते हैं। संक्षेपतः न तो आश्विन मास की शुक्ल पक्ष की दशमी को श्रीराम ने रावण का वध किया और ना ही कार्तिक मास की अमावस्या को श्रीराम वनवास की अवधि पूर्ण कर अयोध्या वापिस लौटे। रावण का मन्त्री उसे परामर्श देते हुए कहता है-

“अभ्युत्थानं त्वमद्यैव कृष्णपक्ष चतुर्दशीम्।
कृत्वा निर्याद्यमावस्यां विजयाय बलैर्वृतः॥”

अर्थात् आज कृष्णपक्ष (चैत्र कृष्णपक्ष) की चतुर्दशी है। आज आप युद्ध की पूर्ण तैयारी कीजिए और कल अमावस्या को सेना को साथ ले विजय के लिए दुर्ग से बाहर निकलिए। इसके अतिरिक्त वाल्मीकि रामायण का एक और श्लोक उद्धृत करना चाहूँगा, जो कि युद्धकाण्ड के सातवें सर्ग का पहला ही श्लोक है-

“पूर्णे चतुर्दशी वर्षे पञ्चम्यां लक्ष्मणाग्रजः।
भरद्वाजाश्रमं प्राप्य ववन्दे नियतो मुनिम्॥”

अर्थात् वनवास के चौदह वर्ष पूरे हो जाने पर चैत्र शुक्ल पञ्चमी के दिन श्रीराम मुनि भरद्वाज के आश्रम में पहुँचे और उन्हें यथाविधि प्रणाम किया। वाल्मीकि

रामायण के अनुसार श्रीराम के राजतिलक की घोषणा और उसकी तैयारी, चौदह वर्ष के वनवास की घोषणा और श्रीराम का वनगमन ये समस्त प्रक्रियाएँ चैत्र मास में ही सम्पन्न होती हैं। रामायण का एक श्लोक उपर्युक्त पक्ष को पुष्ट करता है, जिसमें कहा गया है-

“चैत्र श्रीमानयं मासः पुण्य पुष्पित काननः।
यौवराज्याय रामस्य सर्वमेवोपकल्प्यताम्॥”

अर्थात् हे आचार्यगण! इस श्रेष्ठ और पवित्र चैत्र मास में, जिस (मास) में वन पुष्पों से सुशोभित हो रहे हैं उस (पावन मास) में श्रीराम के राज्यभिषेक की तैयारी कीजिए। रामायण के उपरोक्त कथनानुसार श्रीराम के राज्यभिषेक की घोषणा से लेकर उनके वनगमन तक की प्रक्रिया चैत्रमास में ही हुई, तो चौदह वर्षों बाद श्रीराम जी का जब आगमन हुआ, तो वह भी चैत्र मास में ही हुआ है। जब चित्रकूट में भरत श्रीराम से अयोध्या वापस चलने का अनुरोध करते हैं और श्रीराम भरत के अनुरोध को विनम्रता से अस्वीकार कर देते हैं, तो भरत कहते हैं :-

“चतुर्दशे हि सम्पूर्णं वर्षेऽहनि रघूत्तम।

न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रजेक्ष्यामि हुतांशनम्॥”

अर्थात् हे रघुकुलश्रेष्ठ यदि चौदहवाँ वर्ष पूर्ण हो जाने पर पहले ही दिन मैंने अयोध्या में आप के दर्शन नहीं किए, तो मैं अग्नि में कूदकर भस्म हो जाऊँगा। इस पर श्रीराम ने कहा कि

“तथेति च प्रतिज्ञाय तं परिष्वज्य सादरम्।

शत्रुघ्नं च परिव्यज्य भरतं चेदमब्रवीत्॥”

अर्थात् श्रीराम ने तथास्तु कहा और भरत को सीता की शपथ देते हुए माँ कैकेयी पर कभी क्रोध न करने का आग्रह किया। रावण से युद्ध जीतने के बाद जब विभीषण द्वारा दी जाने वाली भेंट को स्वीकार करने की प्रार्थना की जा रही थी, तो श्रीराम भरत को दिये वचन को याद करते हुए कहते हैं-

“स तु ताम्यती धर्मात्मा मम हेतोः सुखेचितः।

सुकुमारो महाबाहुः कुमारः सत्य संश्रय ॥

तं विना कैकेयीपुत्रं भरतं धर्मचारिणम्।

न मे स्नानं बहुमतं वस्त्राण्यभरणानि च॥”

अर्थात् हे भिन्न! सुख पाने योग्य धर्मात्मा सुकुमार

महाबाहु सत्यवक्ता, राजकुमार भरत मेरे कारण कष्ट पा रहा है। उस धर्मात्मा कैकेयीनन्दन भरत को देखे बिना स्नान करना, वस्त्र और अलंकार धारण करना मुझे अच्छा नहीं लगता। प्रबुद्ध पाठकगण! प्रश्न उठता है कि उपर्युक्त प्रसंगों का दीपावली और दशहरा के समय से क्या सम्बन्ध है? मैं क्रमशः इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत करता हूँ। जैसा कि पूर्व में लिखा जा चुका है कि श्रीराम के राज्याभिषेक की घोषणा से लेकर वनगमन और वनवास से वापिसी तक चैत्र मास में ही हुई। क्योंकि भरत ने श्रीराम से यह वचन ले लिया था कि वनवास की अवधि पूर्ण होने के अगले दिन ही अयोध्या आएंगे, अन्यथा वह (भरत) आत्मदाह कर लेंगे। श्रीराम भी अयोध्या पहुँचने को आतुर हैं, तभी तो श्रीराम विभीषण को कहते हैं कि मुझे भरत के बिना स्नान और आभूषणादि पसन्द नहीं हैं। अर्थात् भरत श्रीराम को उसी मास (चैत्र) में अयोध्या वापिस लौटाने के लिए प्रतिबद्ध हैं, जिस मास (चैत्र) में वनवास हुआ है और श्रीराम भी उसी मास (चैत्र) में आने के लिए प्रतिबद्ध हैं, जिस मास में आने का उन्होंने भरत को वचन दिया था। फिर उनके (श्रीराम के) प्रत्यागमन का उत्सव कार्तिक की अमावस्या को क्यों? तुलसीकृत रामायण में भी स्पष्ट लिखा है-

“ चैत्र शुक्ल चौदस जब आई।

मरयी दशानन जग दुःखदायी।।”

अब प्रश्न उठता है कि यदि दीपावली का पर्व श्रीराम के अयोध्या आने की खुशी में नहीं मनाया जाता है, तो फिर इस पर्व को मनाने के पीछे कौन सा तार्किक कारण है?

मेरा अपना मानना ये है कि हमारा देश कृषि-प्रधान देश है और इस समय किसान की नई फसल पककर तैयार होती है, इस खुशी में वह यज्ञादि करता है और घी के दीप जलाता है। वर्षातु में जो विषैले कीटाणु पैदा हो गए थे, उनके निवारण के लिए साफ-सफाई और लिपाई-पुताई भी आवश्यक हो जाती है। कई बार किसी दिन विशेष से कोई-कोई ऐतिहासिक घटना भी जुड़ जाती है। जैसे - हम आर्यों के लिए तो महत्व इसलिए भी है कि इसी दिन वेदोद्धारक, युगप्रवर्तक महर्षि दयानन्द ने इस अनित्य संसार से नश्वर देह का त्याग करते हुए निर्वाण प्राप्त किया था। ऋषि का सारा जीवन राष्ट्र के निर्माण में व्यतीत हुआ। वे राष्ट्र के लिए जिए और राष्ट्र के लिए मृत्यु को भी प्राप्त हुए।

आर्यराष्ट्र के निर्माण का स्वप्न लेकर आपने निर्णायक क्रान्ति का शंखनाद किया। विदेशी शासन होने के बाद भी शासन की आलोचना करना, पाखंडियों से शास्त्रार्थ समर में डटकर सामना करना और न केवल सामना करना, अपितु उन्हें हराना, देशवासियों को उनके राष्ट्रीय गौरव से अवगत कराना, सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक भेदभावों तथा विडम्बनाओं को समूल नष्ट करना, सच्ची ईश्वर-भक्ति सिखाना और भारत को पराधीनता के बन्धन से मुक्ति दिलाना, यही ऋषिवर का उद्देश्य था। अपने इसी ध्येय को पाने के लिए आप अहर्निश, अथक और भागीरथ पुरुषार्थ करते रहे। अपने जीवन में राष्ट्रहित का चिन्तन करते-करते समस्त मत-मतान्तरों का गहराई से अध्ययन करने के बाद उनकी असत्य मान्यताओं का खण्डन करते-करते, समस्त मत-मतान्तरों के धर्माचार्यों को शास्त्रार्थ में हराते-हराते, देशवासियों को जगाते-जगाते, वेदप्रचार की दुन्दुभि बजाते-बजाते, अन्दर और बाहर के शत्रुओं से जूझते-जूझते आखिर आपने दीपावली वाले दिन ईश्वर का चिन्तन और ध्यान करते-करते अपने प्राणों का खुशी-खुशी परित्याग कर दिया। उस दिन पं० गुरुदत्त विद्यार्थी के जीवन में ऋषिवर की मृत्यु ने एक अभूतपूर्व व अकल्पनीय परिवर्तन कर दिया, वो यह कि नास्तिक गुरुदत्त हमेशा-हमेशा के लिए आस्तिक गुरुदत्त बन गया। ऋषिवर का प्रयाण गुरुदत्त के नास्तिक हृदय में आस्तिकता का पावन दीप जला गया। शिवरात्रि को महर्षि ने सच्चे शिव पाने का जो अभियान प्रारम्भ किया था, दीपावली का दिन उस अभियान की सफलता का ऐतिहासिक दिन था। कवि हृदय भी अचानक पुकार उठा :-

“ वेद की पावन ऋचा से जिन्दगी ऐसी जलाली।
जब जले तो भोर हुआ और भुझे तो धी दिवाली।।”

अन्त में मेरा निवेदन है कि नवान्न (धान, ज्वार, बाजरा आदि) हमारे घरों में आता है। नवान्न हमारी समृद्धि और सम्पन्नता का सूचक है। अन्न के माध्यम से घरों में आने वाली समृद्धि और सम्पन्नता का घी के दीप जलाकर और नवान्न मिश्रित सामग्री से अग्निदेव को हवि प्रदान कर अपनी प्रसन्नता प्रकट करना बहुत स्वाभाविक है और व्यवहारिक भी।

परमपिता-परमात्मा हम सब आर्यों को एकता के सूत्र में बंधने की, समाज को और राष्ट्र को एकता के सूत्र में बाँधने की, राष्ट्र को आर्य बनाने की तथा ऋषि के आदर्शों को अपनाने की शक्ति और सामर्थ्य प्रदान करे।

□□

छान्दोग्योपनिषद् की कथा

(उत्तरा नेरुकर, बंगलौर, मो.- 09845058310)

क्रमप्राप्त छान्दोग्योपनिषद् तो अपने वृहद् आकार में अनेकों कथाओं को समेटे हुए है। लम्बी, छोटी-प्रत्येक प्रकार की कथा यहाँ प्राप्त होती है। अनेकों कथाएं बहुत प्रसिद्ध हैं। जैसे- जाबाल सत्यकाम को विद्या-प्राप्ति, उसका उपकोसल को उपदेश, प्राण और इन्द्रियों का विवाद, नारद को सनत्कुमार का उपदेश, आदि। इन्द्र और विरोचन की कथा के ऊपर पूर्व में भी मैंने अपने एक लेख में प्रकाश डाला था। अबकी बार हम एक ऐसी कथा देखते हैं, जिसके लिए यह उपनिषद् प्रसिद्ध है और जिसके अर्थ कुछ विवादास्पद हैं। मैं भी जो व्याख्या लिखने वाली हूँ, उसका कुछ अंश मेरी स्वयं की समझ से है और अन्य व्याख्याकारों से थोड़ा भेद रखती है। इसी से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस कथा के अर्थ कितने गूढ़ हैं।

छान्दोग्योपनिषद् सामवेद के अन्तर्गत है। सामों (=सामवेद के मन्त्रों) को गाने वालों का नाम 'छान्दोग' होता है। उनके द्वारा रचित अथवा मान्य ग्रन्थ का नाम हुआ 'छान्दोग्य'। यह उपनिषद् छान्दोग्य ब्राह्मण का भाग है, जिसके दश अध्यायों में से अन्तिम आठ अध्याय उपनिषद् रूप में प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार उपनिषद् में प्रपाठक नामक अष्ट अध्याय हैं। प्रत्येक प्रपाठक खण्डों में बंटा है, जिसमें कि गद्यात्मक वाक्य-विभाग हैं, जिनका नाम प्रवाक है।

जिस कथा पर आप हम दृष्टिपात कर रहे हैं, वह है- श्वेतकेतु को उसके पिता उद्दालक द्वारा 'तत्त्वमसि' का उपदेश। वैसे तो पूरा पण्ड प्रपाठक ही उद्दालक के उपदेश-विषयक है, तथापि यहाँ हम केवल उसके तत्त्वमसि-विषयक भाग (६/७-१६) को ही देखेंगे। यह भाग पूर्व के भागों से सम्बद्ध तो है ही, परन्तु विस्तार भय से मैं केवल इतना ही अंश ले रही हूँ। पूरा प्रकरण समझने के लिए उपनिषद् अवश्य पढ़ें।

उद्दालक अपने पुत्र को जीवात्मा का रहस्य बताते हुए कहते हैं, "हे श्वेतकेतु! यह जो (पूर्व-वर्णित) सूक्ष्म प्रकृति से सब दृष्ट जगत् बना हुआ है, वह सत्य है (सत्तावान् और सत्तावान् को धारण करने वाला है), वह 'ऐतदात्म्य' है, यह आत्मावान् है जो, वह आत्मा

तुम हो (स आत्मा तत् त्वम् असि)।" श्वेतकेतु को इससे पूर्णतया समझ में नहीं आया, जैसे हमको भी इस वाक्य से सम्भवतः न आया हो। इसलिए उद्दालक और समझाते हैं, "बेटे! जिस प्रकार मधुमक्खी मधु बनाती है, तो विभिन्न वृक्षों के रसों से एक रस बन जाता है। तब किसी रस को यह विवेक नहीं रहता कि मैं किस वृक्ष का रस हूँ। इसी प्रकार ये सारी प्रजाएं (जीव-जन्तु) सत् (प्रकृति) को प्राप्त होकर, यह नहीं जानते कि हम सत् को प्राप्त हो गए हैं।" यहाँ अर्थ थोड़ा स्पष्ट होता है। महर्षि उद्दालक कह रहे हैं कि प्रकृति सत्-रूपा है- असत् हो, ऐसा नहीं है; और जीवात्मा भी सत् है- वह प्राणियों की आत्मा है। परन्तु शरीर प्राप्त करके अपनी सत्ता को भूल-सा जाता है, जिस प्रकार रस भूल जाते हैं कि वे कहाँ से आए।

इसी बात को विस्पष्ट करते हुए, आचार्य कहते हैं, "वे (आत्माएं) इस संसार में व्याघ्र वा सिंह वा भेड़िया वा सूअर वा कीड़ा वा पतङ्ग वा मच्छर वा मक्खी- जो कुछ भी बनते हैं, वे वह ही हो जाते हैं (अर्थात् अपनी स्वतन्त्र सत्ता भूल जाते हैं)।" फिर वे पुनः उपरि-निर्दिष्ट तत्त्वमसि-उपदेश दोहराते हैं। तथापि श्वेतकेतु की जिज्ञासा शेष रहती है, सो वह कहता है, "भगवन्! आप इस विषय में मुझे और बताएं।"

उद्दालक आगे कहते हैं, "हे सोम्य! ये नदियाँ कुछ पूर्व को बहती हैं ओर कुछ पश्चिम को। वे समुद्र से निकलकर (वाष्प, मेघ और वर्षा होती हुई), समुद्र में ही विलीन हो जाती हैं। वहाँ जैसे उनको नहीं ज्ञात रहता कि मैं अमुक नदी थी, मैं अमुक नदी थी, उसी प्रकार, सोम्य! ये सारी प्रजाएं सत् से आकर (पूर्व जन्म के शरीर से निकलकर), यह नहीं जान पातीं कि हम सत् से आए हैं। वे इस संसार में व्याघ्र वा सिंह वा भेड़िया वा सूअर वा कीड़ा वा पतङ्ग वा मच्छर वा मक्खी- जो कुछ भी बनते, वे वही हो जाते हैं। उस सूक्ष्म प्रकृति में जो आत्मा है, वही तू है, श्वेतकेतु!" जिस प्रकार नदियों का प्रवाह समुद्र के जल से उद्भव होकर, उसी समुद्र में विलीन होना एक अनादि चक्ररूप

है, वैसे ही जीवों का एक शरीर में जाना, मरना, शरीर की प्रकृति में मिल जाना और पुनः नए शरीर के रूप में उद्भव होना एक अनादिकालीन चक्र है। जिस प्रकार नदी के प्रवाह में प्रत्येक अणु की सत्ता तो बनी रहती है, चाहे वह क्यों न भूल जाए कि वह कहाँ से आया है और कहाँ जा रहा है, उसी प्रकार आत्माएं भी एक शरीर से दूसरे शरीर में आती-जाती रहती हैं, परन्तु अपनी सत्ता भूल जाती हैं- वे जिस 'नदी' में मिलती हैं, उसी की हो जाती हैं!

जब पुनः श्वेतकेतु और समझाने के लिए आग्रह करता है, तो उद्दालक कहते हैं, "हे सोम्य! इस बड़े वृक्ष की जड़ में जो प्रहार किया जाए, तो वह जीता हुआ ही रस चुआ देगा। इसी प्रकार ऊपर या बीच में प्रहार करने पर। क्योंकि वह जीते हुए आत्मा से भरा होता हुआ (भूमि से जल को) पीता हुआ, प्रसन्न होता हुआ खड़ा रहता है। जब जीव (=आत्मा) उसकी एक शाखा को छोड़ देता है, तो वह सूख जाती है; जब वह दूसरी शाखा को छोड़ देता है, तब वह पेड़ सूख जाता है। तू इसी प्रकार इसे समझ, सोम्य!" यहाँ उद्दालक अति-स्पष्ट कर देते हैं कि वे किस प्रकार प्राकृतिक शरीर और उसके जीवात्मा की बात कर रहे हैं। वे बताते हैं कि इस शरीर में जीवन तब तक है, जब तक उसमें आत्मा है। जब तक वह आत्मा शरीर को भरे है, तब शरीर को चोट लगने पर भी वह निर्जीव नहीं होता; परन्तु जहाँ एक अंश में भी आत्मा नहीं रहता, तो वही अंश मर जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि प्राकृतिक शरीर से अन्य कोई तत्त्व है, जो कि उसको जीवित कर रहा है। वही आत्मा है (ब्रह्म नहीं क्योंकि ब्रह्म तो सर्वत्र है- निर्जीव शाखा में भी और सजीव शाखा में भी; और न ही अद्वैत ब्रह्म जो एक-साथ निर्जीव और सजीव- दोनों ही शाखा बना हुआ है। यह इस प्रकरण-विषयक दो अन्य मतों का खण्डन है)। आगे वे पुनः कहते हैं, "जीव (=आत्मा) के छोड़ जाने पर, निश्चय ही वह वृक्ष (=शरीर) मर जाता है, परन्तु जीव नहीं मरता। क्योंकि यह शरीर ऐतदात्म्य है और वह सत् आत्मा ही तू है, श्वेतकेतो!"

श्वेतकेतु के और समझाने के आग्रह पर, वे उसको वटवृक्ष का फल लाने को कहते हैं और उसको काटकर अन्दर देखने को कहते हैं। जो बीज दिखता है, उसे पुनः काटने को कहते हैं, तो श्वेतकेतु कहता है कि उस

छोटे से बीज के अन्दर तो कुछ भी नहीं है। तब वे कहते हैं, "सोम्य! जो तुम्हें बीज का सूक्ष्मतम अंश नहीं दिख रहा है, उसी से यह महान् वटवृक्ष उत्पन्न हुआ है, यह विश्वास रखो। इसी प्रकार यह तुम्हारा आत्मा है।" भाव यह है कि कई वस्तुएं हमारी इन्द्रियों के परे होती हैं, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं होता कि इस कारण से वे हैं ही नहीं। उन अप्रत्यक्ष वस्तुओं का भी हम पता लगा सकते हैं, और उसमें प्रमाण है- अनुमान और उपमान। वस्तुतः, पेड़ को काटने का उदाहरण अनुमान प्रमाण है, जबकि वटवृक्ष के बीज का उदाहरण उपमान प्रमाण है।

और व्यावहारिक दृष्टान्त देते हुए, वे श्वेतकेतु को नमक के ढेले को पानी के पात्र में डालने को कहते हैं और फिर प्रातः उनके पास आने को कहते हैं। प्रातः, वह उसे उस पानी में रखे नमक को लाने को कहते हैं। वह जब पानी को देखता है, तो उसको लवण नहीं मिलता। पिता कहते हैं, "इस जल को ऊपर से चखो। कैसा है?" श्वेतकेतु कहता है, "नमकीन है।" इसी प्रकार वह पात्र के बीच और अन्त में से, और अन्ततः सारे पानी को पी जाता है। उसे सारे पानी में नमक का स्वाद आता है। तो उद्दालक कहते हैं, "बेटा! जो तुझे नमक नहीं दिख रहा था, वह था तो पानी में ही! इसी प्रकार यह तेरा अणुतर आत्मा अणु प्रकृति में स्थित है।" उद्दालक इस प्रकार दर्शाते हैं कि, एक तो, जो सत् है वह अदृष्टिगोचर हो सकता है। दूसरे, तथापि वह दूसरी इन्द्रिय से प्राप्त हो भी सकता है। तीसरे, अणुतर वस्तु अणु वस्तु में व्याप्त हो सकती है। इसी प्रकार जीवात्मा है तो अदृष्टिगोचर, तथापि प्राण आदि लिंगों से हम उसको देख भी सकते हैं और वह, सूक्ष्म होता हुआ भी, सम्पूर्ण निर्जीव शरीर में अपनी चेतनता फैला देता है। इस प्रकार लवण और उदक का यह बहुत ही उपयुक्त उदाहरण है।

आगे भी वे उपमा देते हैं, "प्रिय! मानो कि किसी को गन्धार देश से आँखों पर पट्टी चढ़ाकर लाया गया और किसी निर्जन स्थान में छोड़ दिया जाता है, तो वह दिग्भ्रान्त हो जाता है- उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम - उसे कुछ नहीं सूझता है। फिर वह जोर से चिल्ला पड़ेगा कि मुझे बन्द आँखों से लाया गया और बंधी आँख छोड़ दिया गया है (मुझे घर जाने का मार्ग नहीं सूझता है)। तब कोई दूसरा आकर उसकी आँख की पट्टी खोल देता

है और उसको गन्धार देश की दिशा बता देता है। फिर वह यदि बुद्धिमान् होगा, तो एक ग्राम से दूसरे ग्राम तक पूछते-पूछते गन्धार देश पहुँच ही जायेगा। इसी प्रकार आचार्यवान् (=जिसका गुरु से सान्निध्य हो) पुरुष (=आत्मा) को जान जाता है। उसको तब तक की देर है, जब तक वह (आँखों पर बन्धी पट्टी से) छूट न जाए। इसलिए (आचार्य को) प्राप्त कर।" यहाँ एक बड़ी हृदयग्राही उपमा द्वारा उद्दालक गुरु की महिमा को बताते हैं। जो हम अपने को देख नहीं पा रहे हैं, अपने शरीर को ही स्वयं मान रहे हैं, तो इस अज्ञान को गुरु ही नष्ट कर सकता है। जबकि हमको 'अपने घर' तो स्वयं ही पहुँचना है, स्वयं ही यत्न करना है, तथापि एक नहीं, अपितु अनेक गुरुओं की सहायता लेकर हम अपना मार्ग ढूँढ़ सकते हैं।

फिर भी श्वेतकेतु सन्तुष्ट नहीं होता है, तो उद्दालक कहते हैं, "सोचो कोई मरणासन्न व्यक्ति है। उसके चारों ओर उसके बन्धुजन बैठे हैं। वे एक-एक उससे पूछते हैं, मुझे जानते हो? मुझे जानते हो?" जब तक उसकी बाणी मन में, मन प्राण में, प्राण तेज में और परदेवता (=प्रकृति) में नहीं लीन होते, तब तक तो वह उन सबको पहचानता है; जब वे इस क्रम से लीन हो जाते हैं, तब वह उनको नहीं जानता। जो वह अणिमा, आत्मवान् प्रकृति है, जिससे यह सम्पूर्ण संसार उत्पन्न हुआ है, उसका आत्मा तू ही है।" यह वाक्य पिछले प्रकरण से जुड़ता है, इसलिए अधिक व्याख्या नहीं दे रही हूँ। वस्तुतः, यहाँ मरण-प्रक्रिया निरूपित की गई है। पुरुष इन सभी प्राकृतिक देवताओं से भिन्न है, यही बताना आचार्य को अभीष्ट है।

अन्त में, वे एक और विचित्र दृष्टान्त देते हैं, "किसी व्यक्ति पर चोरी का दोषारोपण करके, पुलिस उसको न्यायाधीश के सामने हाथ बाँधकर लाती है, तो न्यायाधीश उसकी परीक्षा के लिए कहता है कि एक फरसे को तपाया जाए। वह तपा हुआ फरसा दोपी को पकड़ना होता है। यदि वह उस दुष्कर्म का कर्ता होता है, तो वह अपने को अनृत कर देता है, झुठला रहा होता है। उस अनृत से अपनी आत्मा को ढाँपकर वह फरसा जब पकड़ता है, तो जल जाता है और उसे सैनिक मार देते हैं। लेकिन यदि वह उस कृत्य का कर्ता नहीं होता, तो वह अपने को सत्य करता है। उस सत्य से अपने को ढाँपकर वह फरसे को पकड़ने पर नहीं

जलता और मुक्त हो जाता है (सैनिक उसे छोड़ देते हैं)। जैसे वह पुरुष वहाँ नहीं जला, वैसी ही आत्मा तुम हो, श्वेतकेतो! उसको जानो! उसको जानो!"

बड़े ही विचित्र शब्दों में उपनिषत्कार ने अपनी बात रखी है। इस अलंकार का सत्य मुझे इस प्रकार प्रतीत होता है- वास्तविक जीवन में, जलते तो दोनों ही व्यक्तियों के शरीर हैं। ऐसा नहीं है कि अग्नि-परीक्षा से सत्यासत्य का दूसरे को भान कराया जा सकता है। परन्तु, जो आत्मा इस शरीर के कृत्यों को अपने कृत्य मानती है, वह उन कृत्यों के सुख-दुःखों से दग्ध होती है। दूसरी ओर, जो आत्मा अपने सत्य को जान जाती है, वह जानती है कि ये सांसारिक कृत्य मैं नहीं, मेरा शरीर कर रहा है। तब वह उन कर्मों के फलों से दग्ध नहीं होती, क्योंकि वह निष्काम कर्म करने लगती है। इस ज्ञान के फलस्वरूप वह जीवन-मरण के बन्धन से उसी समय मुक्त हो जाती है। जब तक उसे यह ज्ञान नहीं होता, तब तक उसके 'हाथ बन्धे' रहते हैं।

हम देख सकते हैं कि इस प्रकार अर्थ करने से सभी दृष्टान्त अत्यन्त स्पष्ट हो जाते हैं, जबकि अद्वैतवाद या ब्रह्मवाद मानकर चलने से अर्थ विकृत हो जाते हैं, सभी प्रवाकों में पूर्णतया नहीं लगते। प्रधानतया, इस प्रपाठक में आत्मा की सत्ता को सिद्ध करना अभीष्ट है, उसको प्रकृति से आवृत और उसमें व्याप्त दिखाना लक्ष्य है। इसलिए, प्रत्येक खण्ड का अपना एक महत्त्व है- वह आत्मा की सत्ता को अलग-अलग प्रकार से प्रस्तुत करता है।

'तत्त्वमसि' वाक्य को प्रकरण को न देखते हुए, जो ब्रह्म का ही प्रकृति-रूप और ब्रह्म का ही जीवात्मा-रूप होना अद्वैतवादी कहते हैं, वह निराधार है। इसी प्रकार, ब्रह्म ही सर्वत्र विद्यमान है और उसी को प्राप्त करना जीवन का उद्देश्य है, यह भी उपदेश यहाँ ग्रहण नहीं होता। वस्तुतः, जैसा कि स्वामी दयानन्द कह गए हैं, जीव ब्रह्म को आंशिक रूप से ही जान सकता है, क्योंकि पूर्णतया उसको जानने का जीव का सामर्थ्य ही नहीं है। परन्तु अपने को हम पूर्णतया अवश्य जान सकते हैं। वह स्वरूप प्रकृति के आवरण में छिपा है। जिस दिन हम उसे प्राप्त कर लेंगे, इस आवरण को उतार फेंकेंगे, उसी दिन हम मोक्ष के भागी हो जायेंगे। यही उपदेश इस कथा में ओत-प्रोत है।

□□

आर्यों का संघर्ष व बलिदान (1)

(राजेशार्य, आड्डा , मो0:-09991291318)

प्रिय पाठकवृन्द! यह ठीक है कि बुद्ध, महावीर, कबीर, नानक आदि वैदिक धर्म के विकृत स्वरूप (हिन्दू) को सुधारने के लिए प्रयासरत हुए थे, पर कालान्तर में उनके शिष्यों ने स्वयं को विराट् धर्म से अलग कर मत के दायरे में बन्द कर लिया। इससे लगता है कि अलगाव का यह बीज बुद्ध, महावीर आदि की विचारधारा में रहा होगा। उनके द्वारा वेद (मूल) की या तो निन्दा की गई या उपेक्षा की गई। फिर भी हिन्दू समाज में आज भी इनका आदरणीय स्थान है। वेद व वैदिक कर्मकाण्ड (यज्ञादि) की निन्दा करके भी वे हिन्दुओं के अवतारों में शामिल हो गये।

दूसरी ओर ऋषि दयानन्द ने हिन्दू समाज की विकृति को दूर कर उसे शुद्ध वैदिकधर्म का गौरव दिलाने के लिए अपना जीवन लगा दिया। उन्होंने वेद को प्राथमिकता दी, संस्कृत का प्रचार-प्रसार किया; गोपालन व गोरक्षा पर जोर दिया; यज्ञ का शुद्धिकरण व प्रचार किया; वेद धर्म व ग्रन्थ के द्वार सभी योग्य व्यक्तियों के लिए खोल दिये अर्थात् उनके सारे कार्य वेदानुकूल थे व वेद-धर्म का विस्तार करने वाले थे, फिर भी वह ऋषि दयानन्द स्वधर्मियों की आँख में खटक गया। उसके विरुद्ध धर्मसभाएँ की गई; उसे गालियाँ देते हुए पुस्तकें लिखी गई; प्राण हरण की चेष्टाएँ की गई; विष पिलाया गया। उसे नास्तिक घोषित कर प्रचार किया गया कि जो उसके पास जाएगा, उसे पाप लगेगा।

उन घोर स्वार्थी व धूर्त लोगों को डर था कि उनके चंगुल में फँसे धनी व प्रभावशाली व्यक्ति ऋषि दयानन्द के सम्पर्क में आकर सत्य से अवगत न हो जाएँ। इसीलिए ऐसे धूर्तों ने कश्मीर नरेश रणवीर सिंह (१८५७-१८८५ ई.) को ऋषि दयानन्द से मिलने ही नहीं दिया। जयपुर नरेश रामसिंह को भी ऐसी उल्टी-पट्टी पढ़ाते रहे कि उनके मन में ऋषि के प्रति घृणा भर गई।

कहते हैं कि कश्मीर नरेश रणवीर सिंह के काल में कश्मीर के अधिकतर मुसलमान हिन्दू होने के लिए लालायित होकर उनके पास प्रार्थनापत्र लेकर पहुँचे थे। पर कुछ जड़बुद्धि के पण्डितों ने उनके विरोध में महाराजा के राजमहल के सामने या डलझील में कूदकर आत्महत्या की धमकी दे डाली। महाराजा को यह शुद्धिकार्य रोकना पड़ा।

१८७६ ई० की प्रथम तिमाही में महाराजा कश्मीर ने अपने एक सन्देशवाहक के माध्यम से महर्षि दयानन्द को पत्र भेजकर यह पूछा कि क्या शास्त्रों की ऐसी अनुमति है कि धर्मान्तरित हो गए मुस्लिमों एवं ईसाइयों को शुद्ध किया जा सकता है? स्वामी जी ने कहा कि हाँ, ऐसा हो सकता है और सन्देशवाहक को कहा पुनः आकर एतद्विषयक उत्तर ले जाना।

काश्मीर के महाराजा के मंत्री बाबू नीलाम्बर महोदय दीवान अनन्तराय महोदय के साथ एक दिन दिल्ली दरबार में पधारे और परामर्श किया कि स्वामी जी की भेंट महाराजा रणवीर सिंह जी से कराई जाए। स्वामी जी ने स्वीकार किया। वास्तव में उनको महाराजा साहब ने ही भेजा था परन्तु महाराजा साहब संकल्प करके भी पश्चात् पण्डितों के सिखाने से फिर गए। जम्मू में धर्मशास्त्र सम्बन्धी विषयों के निर्णायक पण्डित गणेश शास्त्री ने जम्मू में फरवरी, सन् १८८७ में कहा था कि स्वर्गवासी महाराजा ने (दिल्ली दरबार के समय महर्षि से) मिलने का निश्चय अवश्य ही किया था, परन्तु हम लोगों ने रोक दिया। स्वामी जी जब पंजाब में आये, तब भी महाराजा का विचार उनको जम्मू में बुलाने का हुआ था। हमने (गणेश शास्त्री ने) कहा कि यदि उनको बुलाते हैं, तो पहले मन्दिरों को गिरा दीजिए। इसलिए इस बार भी बुलाने का विचार स्थगित रहा। (गणेश शास्त्री ने ऋषि का प्रशंसक बनने के बाद यह रहस्य

उद्धाटन किया था)- पं० लेखराम कृत महर्षि जीवन चरित्र पृ० २८२

जयपुर के महाराजा रामसिंह ठाकुर रघुनाथ सिंह, श्री प्रसाद आदि के कहने से महर्षि दयानन्द से मिलने के लिए तैयार हो गये थे, परन्तु सरकारी विदूषक पुरन्दर ब्राह्मण वहाँ आया। उसने कहा- महाराजा उनसे न मिलना चाहिये; वे तो ईसाई हैं। जयपुर नरेश ने कहा- इसमें हमारी क्या हानि है, हम अंग्रेजों से भी मिलते हैं, क्या उनसे मिलने पर हम ईसाई हो जायेंगे? इस पर पुरन्दर ने कहा कि ब्रह्मचारी जी अप्रसन्न होंगे। यह बात सुनकर महाराज महर्षि से मिलने नहीं गये।

देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने लिखा है कि जयपुर में उच्च पदस्थ राजकर्मचारी श्री प्रसाद ने मंत्री ठाकुर फतेहसिंह से कहा कि स्वामी जी से महाराजा का वर्तालाप कराओ। उन्होंने महाराजा से निवेदन किया कि एक बड़े संन्यासी जयपुर आये हुए हैं। यदि इच्छा हो तो उनसे साक्षात् कीजिए। इससे पूर्व ही श्राद्ध, मूर्ति-पूजा-खण्डन और ब्राह्मणों के बहकाने के कारण महाराज रुष्ट हो गए थे। महाराज ने कहा कि क्या तुम्हारा आशय दयानन्द से है, यदि मुझमें शक्ति है, तो मैं उसे कुत्तों से फड़वा दूँगा।

मंत्री महोदय ने ये बातें श्री प्रसाद से कहीं और श्री प्रसाद ने स्वामी जी से निवेदन किया कि ऐसी अवस्था में उनका जयपुर रहना उचित नहीं है। स्वामी जी ने निर्भीक भाव से कहा कि तुम राजा के नौकर हो, तुम उसकी आज्ञा मानो। हम उसके नौकर नहीं हैं। इसके पश्चात् वे जयपुर में ६ दिन और रहे और यथापूर्व निर्भीक होकर सत्योपदेश करते रहे। श्री प्रसाद के शत्रुओं ने राजा से कहा कि श्रीप्रसाद ने दयानन्द को जयपुर से नहीं जाने दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि महाराजा ने किसी बहाने से श्री प्रसाद को कारागार में डलवा दिया।

जब महर्षि जयपुर में थे, तभी एक अफवाह फैली थी कि जयपुर नरेश ने महर्षि को बन्दी बनाकर जेल में डाल दिया है। इससे ऋषिभक्त चिन्तित हो गये थे।

कश्मीरनरेश को तो दिल्ली दरबार में साथ-साथ कैम्प होने पर भी धूर्त पण्डितों ने महर्षि से मिलने ही नहीं दिया और जयपुरनरेश धूर्तों की करतूतों से अपने मन में आए खारेपन के कारण पास आए कुएं को ही खारा बताकर दूर हट गये।

शाहपुराधीश राजा नाहरसिंह की तरह उदयपुर नरेश महाराणा सज्जनसिंह ने महर्षि का शिष्यत्व ग्रहण किया। महर्षि अपने उदयपुर प्रवास के दौरान लगभग साढ़े छः मास तक निरन्तर महाराणा सज्जन सिंह को उपदेश देते रहे, मनुस्मृति आदि ग्रन्थ पढ़ाते रहे। महर्षि की प्रेरणा से शराब, वेश्या आदि का त्यागकर महाराजा का जीवन उत्तरोत्तर पवित्र होता गया। महाराणा ने अपने महल पर धर्म के नाम पर होने वाले आडम्बरों पर रोक लगा दी। इससे पण्डे-पुजारी महाराणा से नाराज रहने लगे। महाराणा प्रतिदिन दोनों समय यज्ञ करते थे। भाग्यवश महर्षि की मृत्यु के कुछ समय बाद रोगों की पीड़ा झेलते हुए १८८४ में महाराणा की मृत्यु हो गई। जिन पण्डे-पुजारियों का महाराणा के महल में प्रवेश निषिद्ध था, वे अब महल में आ धमके। महाराणा के परिजनों और भावी शासकों को डराया कि महाराणा का अन्तिम समय कष्टपूर्वक इसलिए बीता क्योंकि वे यज्ञ करते थे। उस दिन के बाद आज तक उदयपुर के महल में यज्ञ नहीं हुआ।

यज्ञ-हवन पौराणिकों में भी पूजा पाठ की प्राचीन पद्धति है। गीता में यज्ञ की महिमा का खूब वर्णन है। पण्डे-पुजारी भी बड़े-बड़े यज्ञ कराके यजमानों से भारी दक्षिणा ऐंठते थे, पर हाय! धर्मविनाशकों को आर्य-समाज के हवन से भी घृणा हुई। ये धर्म के ठेकेदार वैतरणी नदी पार कराने का लालच देकर यजमानों से गोदान लेते रहे; गऊमाता की जय बोलते रहे, पर जब महर्षि दयानन्द के शिष्यों ने गोरक्षा के लिए गऊशालाएं खोलीं, तो उस पुण्यकर्म का भी इन धर्मघातियों ने विरोध किया। उसकी एक झलक देखिये-

ऋषि दयानन्द के बलिदान के बाद आर्यसमाज के प्रसिद्ध भजनोपदेशक चौधरी नवल सिंह जी ने गोरक्षा

का झण्डा उठाया था। स्वामी आलाराम इनके सहयोगी बने थे। पंजाब में गोरक्षा का प्रचार कर उन्होंने बहुत सा धन व गायें इकट्ठी कर ली थीं। तब यह अवस्था थी कि हरिद्वार पर लोग गोदान करके ब्राह्मणों को दे जाते थे और ये लोग गाय को मुसलमानों के हाथ बेच देते थे। मुसलमान उन्हें ज्वालापुर आदि ले जाकर मार डालते थे। इस प्रकार प्रतिवर्ष सैकड़ों गायें और गोर गोरी (बछड़े-बछड़ियाँ) मारी जाती थीं। उनके लिए धर्म की कोई व्यवस्था नहीं थी। चौधरी नवलसिंह ने वहाँ के ब्राह्मणों से कहा कि जो यात्री गंगाजी में स्नान करे, उससे यह संकल्प कराया जाए कि मैं कभी भी हिंसकों के हाथ गाय नहीं बेचूँगा। वह जो कुछ गोरक्षा के लिए दान दे, उस आमदनी से जंगल में गोशाला बनाई जाये। यह बात हरिद्वार के ब्राह्मणों ने स्वीकार करके एक झण्डा गोरक्षा के नाम से ब्रह्मकुण्ड पर खड़ा कर दिया। पंडित भवानीदत्त ज्योतिपी कनखल को गोरक्षा सभा का अध्यक्ष बना दिया गया।

यह सब व्यवस्था कर चौधरी नवलसिंह जी गोशाला के लिए दान लेने सहारनपुर की तरफ चले गये। बहुत से समाचारपत्रों में यह समाचार छपा, तो धर्मसभा जगाधरी (तब जिला अम्बाला, अब यमुनानगर) ने एक पत्र देकर लाडलीप्रसाद गुजराती को और धर्मसभा रुड़की (सहारनपुर तब) ने फकीरचन्द्र अध्यक्ष को इस कार्य का विरोध करने के लिए हरिद्वार भेजा। उन्होंने वहाँ ब्राह्मणों से कहा कि तुमने अपने सनातन धर्म को छोड़ दिया। आज तक यहाँ न कभी गोशाला बनी थी, न गो बेचने का संकल्प हुआ था। क्या पहले कोई बुद्धिमान न हुआ था? यह गोरक्षा का मत दयानन्द का चलाया हुआ है। हमारा तुम्हारा इसकी हानि करना धर्म है। जब तुम हरिद्वार पर गोरक्षा करोगे, तो लोग कहेंगे कि देखो, दयानन्द का ऐसा उपदेश है कि अब ब्राह्मण भी गोरक्षा करने लगे। दयानन्द जी की कीर्ति होने से तुम्हारी हानि है।

उन्होंने ऐसी बातें कहकर ब्राह्मणों को बहकाया और गोरक्षा का झण्डा, तख्ता, दानपात्रादि उठवाकर

हलवाई की भट्टी में जलवा दिये। कनखल के मास्टर मूलचन्द ने पत्र द्वारा यह समाचार चौधरी नवलसिंह के पास भेजा। वे हरिद्वार पहुँचे और ब्राह्मणों से कहा कि यह तुमने क्या किया, तो ब्राह्मण बोले- गोरक्षा करना या गोशाला बनवाना हमारा धर्म नहीं, हम तो गंगा-पुत्र हैं, गंगा देती है हम खाते हैं। हमको दुनिया के झगड़े से क्या काम? परमेश्वर की इच्छा से गौर मारी जाती हैं- हम उसकी मर्जी को कैसे रोक सकते हैं। मुसलमान गो-वध करते हैं। वे भी तो वेदरीति से करते हैं, कुरान भी तो अथर्ववेद है, पहले हमारे यहाँ भी तो गो-वध करते थे, जब हम समर्थ थे, अब वह सामर्थ्य नहीं है।”

ऋषि-मुनियों की सन्तान के मुख से ये बातें सुनकर चौधरी जी शोकाकुल हो गये। एक सप्ताह तक उन्हें समझाते रहे, पर वे टस से मस नहीं हुए। चौधरी जी एक साल से पेशावर से बरेली तक गोरक्षा के लिए प्रचार करते घूम रहे थे। उन्होंने एक-दो गोशाला भी बनवाई व लाखों लोगों से हिंसक के हाथ गाय न बेचने का संकल्प भी कराया, परन्तु हरिद्वार के इस पुण्यकर्म को धर्मसभा जगाधरी और रुड़की ने मिट्टी में मिला दिया। इस पर चौधरी जी ने कहा- जो ये मेरी जान भी ले लेते पर कार्य का नाश न करते तो मुझे शोक न था।”

जब हरिद्वार के पण्डित किसी तरह न माने, तो चौधरी जी ने उनके इस दुष्कर्म को उत्तर भारत के सारे नगरों में प्रसिद्ध कर दिया और आर्यसमाजों के प्रतिनिधि चारों ओर से हरिद्वार पहुँच गये। ११ मई १८८६ को कनखल में बड़ी भारी सभा की गई। पण्डों को समझाया, तो वे गाली देने लगे और लड़ने को तैयार हो गये। १५ मई को गोरक्षिणी सभा का निर्माण कर फर्रुखाबाद के रईस लाला मोहनलाल को प्रधान और चौधरी नवलसिंह जी को मन्त्री बनाया गया। कई समाचारपत्र तो पण्डों की पीठ ठोक रहे थे, पर उनके यजमानों ने उनकी ऐंठ निकाल दी। फिर पण्डों ने भी गोरक्षा सभा बनाई पर उसके तीन सभापति और छह प्रधान बनाये गये क्योंकि उन्हें अपने सब यजमानों को प्रसन्न करना था। यही

उनका अभीष्ट था। इसी कारण हरिद्वार की यह गोशाला, कुछ काल ही चली। यह सब वर्णन प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति ने 'आर्यसमाज का इतिहास' में 'आर्य विनय' के आधार पर किया है।

आर्यसमाज ने गोरक्षा व गोपालन का पावन कर्म अपने हाथ में लिया, तो पापी पेटार्थियों के लिए वह पूजनीया गोमाता भी घृणित हो गई। जिनके पिछड़ेपन के कारण तथाकथित जाति अभिमानी लोग ऐशो आराम (बेगार करवाकर) लूटते थे, उन तथाकथित अछूतों के उद्धार में भी आर्यसमाज का प्रचार मानकर तिलमिलाए लोग शुद्धि व दलितोद्धार का विरोध करने लगे। उनके लिए आर्यसमाज न केवल अछूत हो गया, अपितु वध्य भी हो गया। जैसे पहले जयपुर में गये ऋषि दयानन्द के विषय में अफवाह फैली थी कि उन्हें जयपुर नरेश ने बन्दी बनाकर जेल में डाल दिया, उसी तरह शुद्धि व दलितोद्धार के कार्य में प्रमुख भूमिका निभाने वाले महात्मा मुंशीराम के विषय में उन दिनों पंजाब के प्रसिद्ध समाचारपत्र 'ट्रिब्यून' में छपा था कि जालन्धर की हिन्दू जनता ने रहतियों (एक दलित जाति) के शुद्धि से विक्षुब्ध होकर आर्यसमाज के प्रधान लाला मुंशीराम के घर पर चढ़ाई कर दी, उनको पकड़ लिया और घसीट कर समाज मन्दिर में ले आये। उसके बाद उन्हें रस्सियों से बाँधकर समाज मन्दिर के आंगन में खड़े एक पीपल के पेड़ पर फाँसी पर लटका दिया और उनके दोनों ओर एक-एक रहतिया को भी फाँसी पर लटका दिया।

यह समाचार पढ़कर आर्यसमाज के विरोधियों ने प्रसन्नता से मिठाइयाँ बाँटीं और आर्यसमाजियों में तहलका मच गया। वास्तविकता जानने के लिए वे महात्मा मुंशीराम के घर की ओर दौड़ पड़े और उनकी कुशलता पूछने के लिए तार पर तार आने लगे। यद्यपि यह समाचार झूठा था, पर हिन्दुओं की प्रतिक्रिया ने आर्यसमाज के प्रति घृणा तो प्रकट कर ही दी। इससे दुःखी होकर महात्मा मुंशीराम ने 'सद्धर्म प्रचारक' में लिखा था- 'हिन्दू भाई वेद-शास्त्रों को मानने का दावा करते हुए भी

आर्यसमाजियों के विरुद्ध षड्यन्त्र रचें, इससे बढ़कर क्या और भी कोई जख्म हो सकता है। हम आपको दिखा चुके हैं कि किस प्रकार हमारे ही पूर्वजों की सन्तान हमारे ही भाई, हमारे विरुद्ध जान-बूझकर सफेद झूठ फैला रहे हैं और इस प्रकार आर्य सन्तान के घोर पतन का प्रमाण दे रहे हैं। क्या इससे बढ़कर कोई और जख्म हो सकता है। प्यारे भाइयो, हमारे दिल पर सख्त चोटें लग रही हैं। यह आत्मा जख्मों से छलनी हो रहा है। लेकिन फिर भी हम निराश नहीं हैं।' (स्वामी श्रद्धानन्द : एक विलक्षण व्यक्तित्व)

यदि पुराणों व पौराणिक रूढ़ियों का खण्डन करना ही पण्डितों द्वारा ऋषि दयानन्द के विरोध का कारण था, तो वैदिक कर्मकाण्ड का विरोध करने वाले बुद्ध-महावीर, बौद्धों व जैनियों का खण्डन करने वाले शंकराचार्य-कुमारिल भट्ट; शंकर के मायावाद का खण्डन करने वाले रामानुजाचार्य आदि पूज्य कैसे हो गये? और स्वयं मांस खाने के लिए वैदिक ऋषियों को गो-हत्यारा बताने वाले, राम-कृष्ण को काल्पनिक कहने वाले समाज-सुधार के विरोधी ईसा व मोहम्मद का गुणगान करने वाले स्वामी विवेकानन्द हिन्दुओं के पूज्य कैसे हो गये? (क्रमशः)

भूल-सुधार

प्रिय पाठकवृन्द! अक्टूबर-२०१७ के अंक में गुरुकुल वृन्दावन के आचार्य नरेन्द्र जी के विषय में कुछ लिखा गया था। यह स्वामी अग्निदेव 'भीष्म' जी की पुस्तक 'अग्ने शूद्राः' से उद्धृत था। इसकी समीक्षा लिखनी मुझे याद नहीं रही। वृन्दावन गुरुकुल के स्नातक श्री अर्जुनदेव वर्णी (आगरा) ने इस ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया। प्रबुद्ध पाठक ध्यान दें कि वास्तव में वे आचार्य नरेन्द्र न होकर पं० नरदेव स्नातक थे। पं० शिवकुमार शास्त्री (सांसद) ने एक बार उनका परिचय देते हुए कहा था- 'ये हैं पं० नरदेव स्नातक, आर्यसमाज के विद्वान् और कांग्रेस के चमार'। शास्त्री जी के कथन का भाव घृणा व्यक्त करना नहीं, अपितु अपने विद्वान् साथी को भूल का अहसास कराना था।

‘सत्य और अहिंसा का स्वरूप’

(मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून, मो०:-09412985121)

आजकल धर्म और राजनीति में सत्य और अहिंसा की बहुत चर्चा होती है। हमें लगता है कि इनके वास्तविक स्वरूप व इनके प्रयोग के विषय में लोगों में अनेक भ्रान्तियाँ हैं। इसलिए हम आज इस विषय में कुछ विचार कर रहे हैं। सत्य और अहिंसा का वेद से लेकर सभी शास्त्रों में वर्णन व गान किया गया है। ईश्वर का पहला प्रमुख नाम ही सच्चिदानन्दस्वरूप है। सच्चिदानन्द तीन शब्दों का समुदाय है, जिसमें सत्, चित्त और आनन्द इन तीन गुणों का समावेश है। सत् किसी पदार्थ की सत्ता को कहते हैं। ईश्वर है और उसकी सत्ता भी है, यह यथार्थ है। इसलिये ईश्वर को सत् कहा गया है। व्यवहार में भी सत्य व असत्य शब्दों का प्रयोग किया जाता है। जो पदार्थ जैसा है, उसको उसके यथार्थ स्वरूप के अनुरूप जानना व मानना सत्य कहलाता है। यदि किसी को उसका सत्य स्वरूप विदित नहीं है और वह फिर भी उस अवास्तविक स्वरूप को जिसे वह भली प्रकार से जानता नहीं है, मानता है, तो वह उसका असत्य स्वरूप कह सकते हैं। व्यवहार में जब सत्य व असत्य का प्रयोग होता है, तो कहा जाता है कि मनुष्य को सत्य बोलना चाहिये, असत्य नहीं बोलना चाहिये। सत्य वह है, जो हमारे ज्ञान में है। अर्थात् जैसा हम अर्थात् हमारी आत्मा जानती है। कई बार हम स्वार्थ व प्रलोभनों के कारण सत्य को छुपाते हैं और उससे उलटा व उससे भिन्न बात कहते हैं, तो वह असत्य हो जाता है। ऐसा करना असत्य या बुरा होता है। ऐसा किसी को भी नहीं करना चाहिये। प्राचीन काल में जब बच्चा गुरुकुल में अध्ययन के लिए प्रवेश करता था, तो उसे शिक्षा देते हुए आचार्य व बालकों के प्रतिनिधि पिता द्वारा कहा जाता था कि सदा सत्य बोलना, असत्य

मत बोलना। सत्य बोलना धर्म है, असत्य बोलना अधर्म या पाप है। हमारे शास्त्रों का एक प्रसिद्ध वाक्य व सूक्ति है ‘सत्यमेव जयते नानृतं’ अर्थात् सदा सत्य की ही जीत होती है, असत्य की नहीं। इस कारण सत्य बोलना मनुष्य के लिए आवश्यक है और उसका व्यवहार भी सत्य पर ही आधारित होना चाहिये।

सत्य का व्यवहार करने के लिए यह आवश्यक है कि हम जिसके प्रति सत्य का व्यवहार कर रहे हैं, वह भी निर्दोष हो और हमारे प्रति सत्य का व्यवहार करे। यदि दूसरे व्यक्ति का उद्देश्य द्वेषपूर्ण हो, तो फिर ऐसे व्यक्ति के प्रति सत्य का व्यवहार करने से पूर्व उससे होने वाले हानि व लाभों पर विचार कर लेना उचित होता है। यह तो निश्चित है कि जो व्यक्ति सच्चा व सत्य पर दृढ़ है, उसके प्रति व्यक्तिगत व्यवहार करते हुए हमें सत्य का पालन व व्यवहार ही करना चाहिये। यदि वह हमसे छल कर कुछ पूछ रहा है, तो हमें यह ज्ञात होना चाहिये कि उसका उद्देश्य क्या है और वह हमारी जानकारी का सदुपयोग करेगा या दुरुपयोग। यदि हमारे सत्य बोलने से किसी की हानि होती है, प्राण जा सकते हैं व अन्य प्रकार से दुःख व पीड़ा हो सकती है, तो हमें विचार करना चाहिये और ऐसा सत्य बोलना चाहिये जो प्रिय हो परन्तु अनिष्ट किसी प्रकार अपना व अन्य किसी का न हो। ऐसा कहा जाता है कि किसी निर्दोष के प्राण बचाने के लिए यदि मौन रहा जाये, तो वह अच्छा होता है। उदाहरण भी यह हो सकता है कि एक व्यक्ति के पीछे कुछ हत्यारे घूम रहे हैं। वह हमसे पूछे कि अमुक व्यक्ति किधर गया? क्या आपने देखा? ऐसी परिस्थिति में जानते हुए भी यही कहना उचित है कि हमने नहीं देखा। इससे उसकी प्राणरक्षा हो जाती

है। शहीद भगत सिंह ने जब लाला लाजपतराय जी के हत्यारे साण्डर्स को गोली मारी, तो वह डीएवी कालेज लाहौर के प्रांगण से होकर भागे थे। वहाँ इतिहासविद् पं० भगवददत्त जी, अमर स्वामी जी आदि उपस्थित थे। उन्होंने उन्हें जाते हुए देखा था। कुछ ही क्षणों में पुलिस वहाँ आई और इनसे पूछा, तो उन्होंने उत्तर दिया कि हमने नहीं देखा। अतः सत्य का प्रयोग सोच- समझ कर करना चाहिये। रामायण और महाभारत में सत्य व असत्य के अनेक उदाहरण मिलते हैं। अहिंसा की रक्षा के लिए कई बार हिंसा आवश्यक होती है, उसके भी अनेक उदाहरण हैं।

ऐसा माना जाता है कि जो असत्य दूसरों के हित के लिए बोला जाता है, वह असत्य नहीं होता। सत्य बोलने से परिणाम भी शुभ ही होना चाहिये। दुष्टों के प्रति सत्य का व्यवहार करना उचित प्रतीत नहीं होता। जो लोग हमारे बन्धुओं व धर्म के शत्रु हैं, उनके प्रति यदि हम सत्य का कोमल व्यवहार करते हैं, तो इसके घातक परिणाम हो सकते हैं। इतिहास इसके उदाहरणों से भरा है। इसी कारण वेदों के ज्ञाता, ईश्वर के साक्षात्दर्शी ऋषि दयानन्द सरस्वती जी ने नियम बनाया है कि सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये। यहाँ धर्मानुसार और यथायोग्य शब्दों पर विचार करना चाहिये और उसके अनुरूप ही हमारा व्यवहार होना चाहिये। चोर के प्रति उसके अनुरूप यथायोग्य व्यवहार होना चाहिये। झूठे व छली व्यक्ति व समुदायों के प्रति भी धर्मानुसार व यथायोग्य व्यवहार ही करना चाहिये। हर परिस्थिति में सबसे एक समान सत्य का व्यवहार करना उचित नहीं प्रतीत होता। यह हानिकारक व घातक हो सकता है। देश व समाज के हित के लिए यदि कुछ असत्य भी कहना पड़े, तो कहना चाहिये परन्तु अपने व्यक्तिगत हित व स्वार्थ के लिए असत्य का व्यवहार उचित नहीं है। इसके लिए हमें श्री राम, श्री कृष्ण, महात्मा चाणक्य, ऋषि दयानन्द आदि महापुरुषों के

जीवनों सहित नीतिग्रन्थों, चाणक्यनीति, विदुरनीति, शुक्रनीति, भर्तृहरिशतक आदि का अध्ययन करना चाहिये और जानना चाहिये कि किस परिस्थिति में सत्य का किस प्रकार से प्रयोग या व्यवहार किया जाये। हर परिस्थिति में सत्य का समान रूप से प्रयोग स्वयं व देश व समाज के लिए अहितकर हो सकता है। देश में भी बहुत सी गुप्त सूचनायें होती हैं। अधिकारियों को शपथ दिलाई जाती है कि वह उसकी गोपनीयता बनायें रखेंगे अर्थात् सत्य भाषण नहीं करेंगे। उसका पालन न करना दण्डनीय होता है। यहाँ वेदों के ज्ञान के आधार पर ऋषि दयानन्द द्वारा सत्य से संबंधित बनाये अन्य नियमों को भी प्रस्तुत कर देते हैं। पहला नियम है-

‘सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।’
दूसरा नियम है-

‘वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है।’

तीसरा नियम है -

‘सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।’

चौथा नियम है-

‘सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य का विचार करने करने चाहिए।’

हमारे देश के मत-मतान्तरों की स्थिति यह है कि वह वेद सब विद्याओं का पुस्तक है, इस मान्यता को न तो स्वीकार करते हैं और न खण्डन ही करते हैं। इसका कारण उनका स्वार्थ और अज्ञान नहीं तो और क्या हो सकता है?

हिंसा व अहिंसा पर भी विचार करते हैं। हिंसा की उत्पत्ति किन्हीं व्यक्ति व प्राणियों में परस्पर वैर वा शत्रुता की भावनाओं के कारण होती है। हमें अपने मन में किसी के प्रति वैरभावना व द्वेष नहीं रखना चाहिये। वैरभावना से की गई हिंसा पाप होती है। अतः अहिंसा की परिभाषा सभी के प्रति वैर भावना का त्याग करना

होती है। ऐसी स्थिति में भी बहुत से लोग दूसरों के प्रति द्वेष व शत्रुता रखते हैं। ऐसे लोगों के प्रति यथायोग्य व्यवहार ही उत्तम प्रतीत होता है। सज्जन मनुष्यों के प्रति सज्जनता और दुष्टों के प्रति दुष्टता का व्यवहार करना ही उचित प्रतीत होता है। कहा भी जाता है कि दूसरों को अपना शोषण व अपने ऊपर अन्याय नहीं करने देना चाहिये। जो दुर्बल, असहाय, वृद्ध, रोगी, निर्धन व धार्मिक हैं, उनके प्रति दया व करुणा के भाव रखने चाहिये व उनकी श्री राम व श्री कृष्ण के समान रक्षा करनी चाहिये। सबल, अत्याचारी, अन्यायकारी, अभिमानी, दुष्ट व अधार्मिक लोगों के प्रति सज्जनता का व्यवहार कोई मायने नहीं रखता। उनको नसीहत तभी मिलती है, जब उनसे उन्हीं की भाषा व तरीके से व्यवहार किया जाये, जो वह दूसरों के प्रति प्रयोग करते हैं। हिंसक के प्रति हिंसा करना कहीं अधर्म नहीं बताया गया है। दुष्टों के प्रति दुष्टता व हिंसकों के प्रति उन्हीं के अनुरूप हिंसा से उत्तर देना ही धर्मसम्मत व्यवहार है। यह सिद्धान्त पूर्णतः गलत है कि कोई आपके एक गाल पर थप्पड़ मारे, तो दूसरा गाल आगे कर देना चाहिये। इससे तो हिंसा की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है। हिंसा करने वाला अधिक दुष्ट व हिंसक हो जाता है और उसकी हिंसा से सज्जन लोग दुःखी होते हैं। ऐसे लोगों को ऐसा कठोर सबक मिलना चाहिये, जिससे वह हिंसा का व्यवहार करने की बात सोच भी न सके। शहद की मक्खियों से भी शिक्षा ली जा सकती है, जहाँ वह अपने हमालवर को दबोचकर उसे मरणासन्न कर देती हैं। पहले तो हिंसा रोकने का कार्य सरकार को करना चाहिये और आपातकाल में मनुष्य स्वयं भी, जैसा व्यवहार उचित हो, विचार कर कर सकता है। सिद्धान्त यही है कि हमें जानते हुए किसी निर्दोष के प्रति हिंसा नहीं करनी है। 'टिट फार टैट' या यथायोग्य व्यवहार ही सर्वत्र उचित होता है।

अतः अहिंसा व हिंसा की परिभाषा देश काल व परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित हो जाती है। हमें स्वरक्षा को भी महत्व देना चाहिए। अहिंसा का अर्थ यह नहीं कि हम अकारण किसी की हिंसा का शिकार हो जायें। ऐसा भी न हो कि हम किसी आततायी या आतंकवादी की हिंसा का शिकार हों जायें। शास्त्र में ऐसी अहिंसा का वर्णन नहीं है। अतीत में देश में अहिंसा की गलत धारणा बनने से भी अपूरणीय क्षति हुई है और इसके कारण हम वर्षों तक गुलाम रहे हैं। अहिंसा के लिए नेताजी सुभाष चन्द्र बोस के विचार व व्यवहार तथा हमारे क्रान्तिकारियों की विचारधारा प्रशंसनीय है, जिसने हमें आजादी दिलाई थी। हिंसा अहिंसा के लिए रामायण व महाभारत का अध्ययन कर वहाँ से भी मार्गदर्शन लिया जा सकता है।

ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में मनुष्य की परिभाषा दी है। वहाँ सत्य व अहिंसा का प्रयोग कहाँ कैसे करना चाहिये, इस पर प्रकाश डाला है। वह लिखते हैं- 'मनुष्य उसी को कहना जो कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यो के सुख-दुःख और हानि-लाभ को समझे। अन्यायकारी बलवान से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं किन्तु अपने सर्वसामर्थ्य से धर्मात्माओं कि चाहे वे महा अनाथ, निर्बल और गुणरहित क्यों न हों, उन की रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती सनाथ, महाबलवान् और गुणवान् भी हो तथापि उसका नाश (हिंसा), अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करें अर्थात् जहाँ तक हो सके वहाँ तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करें। इस काम में चाहे उस को कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें, परन्तु इस मनुष्यपनरूप धर्म से पृथक कभी न हों।' ओ३म् शम्।



कुछ विशेष तिथियाँ

(आई.डी. गुलाटी, बुलन्दशहर-उ.प्र., मो०:-08958778443)

१. सरदार पटेल की १४२वीं जयन्ती (३१ अक्टूबर २०१७)

आप कुशल शासक एवं दूरदर्शी थे। आपकी जयन्ती जोर-शोर से मनाई जानी चाहिए। अधिकांश कांग्रेसी आपको ही प्रधानमंत्री बनाना चाहते थे, लेकिन अदूरदर्शी गाँधी ने जबर्दस्ती नेहरू को प्रधानमंत्री बनवा दिया। आपको जम्मू-कश्मीर रियासत के विलय का कार्य नेहरू को नहीं देना चाहिए था। संविधान सभा ने आपकी अध्यक्षता में अल्पसंख्यक निर्धारण उपसमिति बनाई थी, जिसे यह सिफारिश करनी थी कि खण्डित भारत में किस-किस समुदाय को किस आधार पर अल्पसंख्यक माना जाए? कई बैठकों में कुछ निश्चित नहीं हो सका। आपको यह सिफारिश करनी चाहिए थी कि धर्मनिरपेक्ष देश में किसी भी समुदाय को अल्पसंख्यक नहीं माना जाना चाहिए क्योंकि अल्पसंख्यक तो ऐसे देशों में होते हैं, जहाँ अल्पसंख्यक सर्वोच्च सरकारी पदों पर चुने नहीं जा सकते हैं।

२. हरियाणा स्थापना दिवस की ५१वीं वर्षगांठ (०१-११-२०१७)

यह देश का एकमात्र ऐसा राज्य है, जहाँ दयानन्द जयन्ती पर राज्य स्तर पर सरकारी अवकाश होता है। इस राज्य में आर्यसमाज के २५ गुरुकुल हैं। रोहतक में महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय भी है। आर्यसमाज का अच्छा प्रभाव है। इसी राज्य में ढोंगी बाबाओं के डेरे भी हैं। इनके अनुयायी भी अच्छी संख्या में हैं। ७०० एकड़ भूमि में बना हुआ गुरमीत राम रहीम का सिरसा वाला डेरा सबसे बड़ा है और इसकी शाखाएं विदेशों में भी हैं। भक्तों की संख्या ५ करोड़ तक बताई है। राम रहीम एय्याश और चरित्रहीन है। दो मुकदमों में २० साल के कठोर कारावास की सजा और १५ लाख रुपए की राशि की सजा जुर्माने में हुई है। कुछ मुकदमे अभी

चल रहे हैं। यदि आर्यसमाज ज्यादा सक्रिय होता, तो हरियाणा में ढोंगी बाबाओं के डेरे ही नहीं खुलते।

३. देवता स्वरूप भाई परमानन्द की १४३वीं जयन्ती (०४-११-२०१७)

आप भाई मतिदास के वंशज थे। आपने १९१५ में अ.भा. हिन्दू महासभा बनवाई थी। आप के प्रयास से वीर सावरकर १९३७ में हिन्दू महासभा में आए थे। आप अम्बाला में सांसद चुने गए थे।

आपके पुत्र डॉ० भाई महावीर १९५१ में भारतीय जनसंघ के सचिव बने। आप दो बार राज्य सभा के सदस्य बने। आप म०प्र० के राज्यपाल भी रहे थे। मुरादाबाद के सतीश मदान से आपने हिन्दू महासभा में चल रही गुटबाजी पर अपनी नाराजगी प्रकट करते हुए कहा था कि हिन्दू महासभा में आक्रामक, संघर्षशील कार्यकर्ताओं का घोर अभाव देखकर उन्हें दुःख होता है। उन्होंने स्वीकार किया था कि उन्हें जनसंघ-भाजपा में नहीं जाना चाहिए था, बल्कि हिन्दू महासभा का ही कार्य करना चाहिए था।

उर्दू दिवस (१ नवम्बर)

यह विदेशी भाषा है जो अरबी लिपि में दाएं से बाईं ओर लिखी जाती है।

* मुगलों के शासन काल में यह सरकारी भाषा रही थी।

* जिन्ना ने १९४७ में कहा था कि देश विभाजन का श्रेय उर्दू को है।

* पाकिस्तान की राष्ट्रभाषा उर्दू ही है। लाहौर के मुस्लिम अभी भी पंजाबी बोलते हैं लेकिन लिखने का कार्य अरबी लिपि में ही होता है।

* उदारवादी-अदूरदर्शी-स्वार्थी नेताओं ने खण्डित भारत के संविधान की आठवीं अनुसूची में उर्दू को स्थान देकर भयंकर गलती की।

शेष पृष्ठ १६ पर

आस्तिक और नास्तिक दर्शनों में विभेद

(प्रो. डॉ. सुन्दरलाल कथूरिया, भावनगर, गुजरात, मो०:-09718479970)

‘दर्शन’ शब्द की व्युत्पत्ति ‘दृशिर् प्रेक्षणे’ धातु में ल्युट् प्रत्यय के योग से होती है। सामान्यतः ‘दर्शन’ शब्द का अर्थ है देखना, किन्तु अपने विशिष्ट अर्थ में इस शब्द का अर्थ है, जिससे देखा जाए या वे विशिष्ट ग्रंथ जिनमें देखा जाए। स्थूल चर्म-चक्षुओं से देखना यहाँ अभीष्ट नहीं है, अपितु आन्तरिक दृष्टि से प्रकृष्ट रूप से देखना या प्रेक्षण करना ही यहाँ अभीष्ट है। स्पष्ट शब्दों में जिन ग्रंथों में पदार्थ के यथार्थ अर्थात् तात्विक स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है, उन्हें दर्शन या दर्शनशास्त्र कहते हैं। दर्शन के अन्तर्गत ब्रह्म, जीव, प्रकृति एवं मानव-जीवन के वास्तविक उद्देश्य का यथातथ्य तात्विक विवेचन किया गया है। यह जगत (संसार) क्या है और किन तत्वों से निर्मित है? इसका वास्तविक स्वरूप क्या है और इसका निर्माण किसने किया है, मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, क्यों आया हूँ, कहाँ जाऊँगा और मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है अर्थात् मैं शरीर हूँ या शरीर से पृथक् आत्मा? यदि मैं शरीर नहीं हूँ, आत्मा हूँ, तो मैं शरीर में क्यों आया हूँ? और मेरे जीवन का वास्तविक लक्ष्य क्या है? दुःखों से छूटकर मैं वास्तविक आनन्द की प्राप्ति कैसे कर सकता हूँ? इस दृश्यमान संसार के मूल कारण- प्रकृति का यथार्थ स्वरूप क्या है? इन तथा इनसे जुड़े गूढ़, गम्भीर और जटिल प्रश्नों के समाधान का सम्यक् प्रयत्न जिन ग्रन्थों में किया जाता है, उनका समावेश दर्शन के अन्तर्गत है। दर्शन का विवेचन करने वाले ग्रंथों को ‘दर्शनशास्त्र’ की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। ‘शासु अनुशिष्टो’ धातु से व्युत्पन्न शास्त्र शब्द का अर्थ है अनुशासित करना। चूँकि दार्शनिक ग्रंथों में तत्त्व ज्ञान का सम्यक् उपदेश दिया गया है, अतः इनके अध्ययन-मनन और चिन्तन से अध्येता का जीवन अनुशासित होता है। दर्शनशास्त्र के अध्ययन से व्यक्ति का जीवन व्यवस्थित नियमित और मर्यादित हो जाता है, इसीलिए इन ग्रंथों

को शास्त्र की संज्ञा दी गयी है।

दर्शन शास्त्र का मूलाधार : वेद

दर्शनशास्त्र का मूलाधार या मूल स्रोत वेद है। ‘विद्’ धातु से निष्पन्न ‘वेद’ शब्द का अर्थ है ज्ञान, किन्तु यह साधारण ज्ञान न होकर ईश्वरीय ज्ञान है। सृष्टि के प्रारम्भ में मानवमात्र के कल्याण के लिए ईश्वर ने जो ज्ञान दिया, वह ‘वेद’ है। वस्तुतः वेद सभी प्रकार के ज्ञान-विज्ञान के भण्डार हैं। ‘मनुस्मृति’ में मनु महाराज ने लिखा भी है-

‘सर्वज्ञानमयो हि स....’ (२/७) विभिन्न दर्शनों में जिन दार्शनिक सिद्धान्तों की विवेचना की गयी है, उनका मूलाधार बीज-रूप में वेदों में विद्यमान है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद के नासदीय सूक्त (१०/१२६) में सत्-असत् का विषय बीज रूप में आया है। इसी विषय को महर्षि कपिल ने ‘सांख्य दर्शन’ में ‘सत्कार्यवाद’ के नाम से व्याख्यायित किया है। ‘सत्कार्यवाद’ के अनुसार प्रत्येक पदार्थ अपने कारण में अव्यक्त-सत् रूप से विद्यमान रहता है; जैसे तिलों में तेल। वैशेषिक दर्शन में कणाद ऋषि ने ‘हिरण्यगर्भः’ (ऋग्वेद १०-१२२-१) की विस्तृत व्याख्या ‘परमाणुवाद’ के रूप में की है। ‘विद्ययाऽमृतमश्नुते’ (यजुर्वेद, ४०/१४) अर्थात् विद्या से अमृतत्व (अमरता) की प्राप्ति होती है- के आधार पर महर्षि पतंजलि ने अष्टांग योग की परिकल्पना करते हुए ‘योगदर्शन’ में उक्त मंत्र की सूत्रात्मक शैली में व्याख्या की है। गौतम ऋषि ने ‘न्यायदर्शन’ में विद्या-अविद्या का विवेचन प्रत्ययों (पदार्थों) के यथार्थज्ञान (तत्त्वज्ञान) के रूप में प्रत्यक्ष-अनुमानादि प्रमाणों के द्वारा किया है। ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप का विवेचन जहाँ ‘वेदान्त दर्शन’ में किया गया है, वहाँ ‘मीमांसा दर्शन’ में धर्म और अधर्म की मीमांसा (विवेचना) की गयी है। संक्षेप में दार्शनिक ग्रंथों विशेषतः आस्तिक दार्शनिक ग्रंथों का मूलाधार वेद ही है। इन दर्शनों के प्रणेताओं ने जिन विषयों को विस्तार से, सूत्रात्मक शैली में सुस्पष्ट करने

की चेष्टा की है, वे विषय बीज रूप में वेदों में विद्यमान हैं, अतः दर्शन का, दार्शनिक सिद्धांतों का मूल स्रोत निःसंदेह वेद ही हैं।

आस्तिक और नास्तिक दर्शन

मुख्य रूप से दर्शनशास्त्र को दो भागों में विभाजित किया जाता है- १. आस्तिक दर्शन और २. नास्तिक दर्शन। इस विभाजन का मूलाधार है वेदों की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता।

१. आस्तिक दर्शन : जो दर्शन वेदों के प्रमाण को स्वीकार करते हैं, उन्हें आस्तिक दर्शन माना जाता है। आस्तिक दर्शन ईश्वर के अस्तित्व को भी दृढ़तापूर्वक स्वीकार करते- वह (ईश्वर) अस्ति (है), ऐसा मानने वाले 'आस्तिक' और इस मान्यता को स्वीकार कर वेद-प्रमाण के आधार पर उसका तात्त्विक चिन्तन करने वाले शास्त्र आस्तिक दर्शन के अन्तर्गत आते हैं। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदान्त (उत्तर मीमांसा) और मीमांसा (पूर्व मीमांसा) ये छः आस्तिक दर्शन हैं। इन्हें षड्दर्शन के नाम से जाना जाता है। इन सभी दर्शनों में अपने-अपने सिद्धान्तों या मन्तव्यों को स्पष्ट करने के लिए वेदों के प्रमाण उद्धृत किये गये हैं। वेद-प्रमाण की स्वीकृति के कारण ये षड्दर्शन आस्तिक कहलाते हैं।

न्यायदर्शन में महर्षि गौतम ने लिखा है- 'मन्त्रायुर्वेद प्रामाण्याच्च तत्प्रामाण्यमाप्त प्रमाणत्वात्।' (न्यायदर्शन, १-२-६७) अर्थात् जैसे रोगों की निवृत्ति में आयुर्वेद प्रमाण है, वैसे ही मनुष्यों को उपदेश देने में वेद प्रमाण है। स्पष्टतः 'न्यायदर्शन' वेद-प्रमाण को स्वीकार करता है। वैशेषिक दर्शन के प्रणेता कणाद ने वेदों की प्रामाणिकता का उल्लेख इन शब्दों में किया है- 'बुद्धिपूर्वा वाक्य कृतिर्वेदे' (वैशे० ६-१-१) अर्थात् वेद ईश्वरीय रचना है और इनमें वाक्यों (मन्त्रों) की रचना बुद्धिपूर्वक है, सुचिन्तित है। एक अन्य सूत्र में भी महर्षि कणाद ने ईश्वरीय वाणी होने से वेदों की प्रामाणिकता को इस प्रकार स्वीकार किया है- 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्।' (वैशे० १-१-३) कहने की आवश्यकता नहीं कि कणाद मुनि ने भी 'वैशेषिक दर्शन' में वेद-प्रमाण को स्वीकार किया है, अतः यह दर्शन भी आस्तिक है।

योगदर्शन में महर्षि पतंजलि ने लिखा है कि वह ईश्वर गुरुओं का भी गुरु है, अतः उसका वेद ज्ञान प्रामाणिक है- 'सा पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' (योग; १-२६)। 'सांख्यदर्शन' के प्रणेता महर्षि कपिल ने वेदों के अपौरुषेय (ईश्वरीय रचना) होने से वेद को स्वतः प्रमाण माना है- 'निज शक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्' (सांख्य० ५-५-२) सांख्यदर्शन के इस मत को स्वीकृति प्रदान करते हुए देव दयानन्द ने भी वेदों को स्वतः प्रमाण एवं अन्य आर्पग्रंथों के वेदानुकूल मन्तव्यों को परतः प्रमाण माना है।

'वेदान्त दर्शन' के अनेक सूत्रों में भी वेद-ज्ञान की प्रामाणिकता का उल्लेख हुआ है। इन सूत्रों में से कुछ सूत्र हैं- 'शास्त्रयोर्नित्यत्वात्' (वेदान्त, १-१-३), 'जन्माद्यस्य यतः' (वेदान्त, १-१-२), 'तत्तुसमन्वितम्' (वेदान्त० १-१-४)। वेदान्तदर्शन के इन सूत्रों के अनुसार शास्त्र नित्य हैं अर्थात् वेदादि शास्त्रों का निर्माता वह नित्य परमात्मा है, अतः वेदादि शास्त्र भी नित्य हैं। सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और प्रलय का हेतु भी वही परमेश्वर है। सृष्टि का रचयिता और वेदादि शास्त्रों के ज्ञान का देने वाला परमात्मा एक ही है। इस प्रकार वेदान्त दर्शन (उत्तर मीमांसा) में ईश्वरीय सत्ता और वेद-ज्ञान की प्रामाणिकता का उल्लेख हुआ है। मीमांसा दर्शन (पूर्व मीमांसा) में महर्षि जैमिनी ने शब्दों के साथ अर्थ के संबंध का उल्लेख करते हुए स्पष्टतः यह लिखा है कि जगत् के पदार्थों की निर्मिति वैदिक शब्दों के आधार पर हुई है। स्पष्टतः सभी आस्तिक दर्शनों में वेद के प्रमाण और ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया गया है और वेद प्रामाण्य के कारण इन सभी दर्शनों (षड्दर्शनों) को आस्तिक दर्शन कहते हैं।

आस्तिक षड्दर्शनों के सम्बन्ध में एक और उल्लेखनीय तथ्य यह भी है कि इनमें परस्पर अविरोध है। कुछ विद्वानों (?) ने इन दर्शनों में विरोध की कल्पना की है, किन्तु महर्षि दयानन्द ने 'सत्यार्थ प्रकाश' के तृतीय समुल्लास में इस भ्रांति का इन शब्दों में निराकरण किया है: "षड्दर्शनों में परस्पर कोई विरोध नहीं है।" कारण यह कि इन छः दर्शनों में सृष्टि विद्या के छः भिन्न-भिन्न अवयवों का विवेचन किया गया है।

सृष्टि के कर्म कारण की मीमांसा 'मीमांसा दर्शन' में, समय की विवेचना 'वैशेषिक दर्शन' में, उपादान कारण की व्याख्या 'न्याय दर्शन' में, पुरुषार्थ की विवेचना 'योग दर्शन' में, तत्त्व-परिगणन 'सांख्य दर्शन' में और निमित्त कारण परमपिता परमेश्वर की व्याख्या 'वेदान्त दर्शन' में की गयी है। इस प्रकार ये षड्दर्शन एक-दूसरे के विरोधी न होकर पूरक हैं और सृष्टि विद्या के विभिन्न घटकों को व्याख्यायित करते हैं।

२. नास्तिक दर्शन- जो दर्शन (शास्त्र) वेद के प्रमाण को स्वीकार नहीं करते, उन्हें नास्तिक दर्शन कहा जाता है। नास्तिक दर्शन ईश्वर की सत्ता में भी प्रायः विश्वास नहीं करते। उनका मानना है कि वह ईश्वर न (नहीं) अस्ति (है) अर्थात् उसकी कोई सत्ता नहीं है- यह 'नास्तिक' शब्द से स्पष्ट है। नास्तिक दर्शन केवल वेद-प्रामाण्य को ही अस्वीकार नहीं करता, अपितु कहीं-कहीं उनमें वेदों की निन्दा भी है; इसीलिए 'मनुस्मृति' में मनु महाराज ने लिखा है- 'नास्तिको वेदनिन्दकः'। नास्तिक दर्शन के तीन प्रमुख भेद हैं। : १. चार्वाक दर्शन २. जैन दर्शन और ३. बौद्ध दर्शन।

चार्वाक दर्शन : चार्वाक शब्द 'चारु+वाक्' शब्दों के संयोग से बना है। 'चारु' का अर्थ है सुन्दर, मधुर और 'वाक्' का अर्थ है वाणी, इस प्रकार 'चार्वाक'

शब्द का अर्थ है सुन्दर या मधुर वाणी अर्थात् ऐसी बातें, जो श्रोताओं को सुनने में अच्छी लगें। चार्वाक दर्शन का नाम चार्वाक दर्शन इसलिए पड़ा, क्योंकि इसके सिद्धांत मनुष्यों को बहुत रुचिकर, प्रिय, मधुर और अच्छे लगे। आचार्य बृहस्पति को इस दर्शन का प्रवर्तक स्वीकार किया जाता है। स्वर्ग-प्राप्ति के लिए यज्ञों में दी जाने वाली पशुबलि से करुणा-विगलित आचार्य बृहस्पति ने कहा कि स्वर्ग को तो किसी ने देखा नहीं, फिर उसकी प्राप्ति के लिए तुम यह पाप-कर्म क्यों करते हो? यह उचित नहीं है; क्योंकि आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, मोक्ष आदि प्रत्यक्ष नहीं हैं, उन्हें किसी ने देखा नहीं है, उनकी कोई सत्ता नहीं है, अतः उनकी प्राप्ति के प्रलोभन से कष्ट उठाना, शरीर को कष्ट देना और पशुबलि- जैसे क्रूर कर्म करना सर्वथा अनुचित है। यह शरीर प्रत्यक्ष है, यह संसार प्रत्यक्ष है- हमें इन्हें ठीक रखना चाहिए और इन्हीं को अच्छा बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। मनुष्यों को आचार्य बृहस्पति की यह वाणी अच्छी लगी, सुन्दर लगी, मधुर लगी और वे उसकी ओर आकर्षित हो गये, अतः आचार्य बृहस्पति की इन मान्यताओं का नाम 'चार्वाक दर्शन' पड़ गया।

(क्रमशः)

□□

पृष्ठ १६ का शेष

* बिहार के बाद उत्तर प्रदेश में उर्दू को द्वितीय राजभाषा का स्थान देकर हिन्दी का महत्व कम कर दिया।

* उत्तरी भारत के मुस्लिम नेता शुद्ध हिन्दी बोलते हैं लेकिन सरकारी कर्मचारी जनगणना में इन्हें उर्दू भाषी लिख देते हैं

* मुस्लिम घरों-दुकानों पर प्रायः हिन्दी के दैनिक अखबार ही पढ़े जा रहे हैं।

* १९७१ में उर्दू ही के कारण पाकिस्तान टूटा और पूर्वी पाकिस्तान बांग्लाभाषी बांग्लादेश बना।

* आश्चर्य है कि पश्चिम बंगाल के मुस्लिम बांग्ला की जगह उर्दू को पसन्द कर रहे हैं। उर्दू को द्वितीय राजभाषा का दर्जा देने की माँग कर रहे हैं।

* कश्मीर घाटी के मुस्लिम कश्मीरी भाषा की अपेक्षा उर्दू को अपना रहे हैं।

* अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय और उसकी शाखाओं में ग्यारहवीं से लेकर चौदहवीं कक्षा तक उर्दू को अनिवार्य विषय घोषित कर दिया गया है।

* लखनऊ मेट्रो ट्रेन के स्टेशनों में उर्दू में भी नाम लिखवाए गए हैं।

* उर्दू को द्वितीय राजभाषा का दर्जा देने के विरोध में, हिन्दी साहित्य सम्मेलन सर्वोच्च न्यायालय तक लड़ा किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली, फिर भी मैं उनके प्रयास व संघर्ष की प्रशंसा करता हूँ। उनके कार्यों से संघर्ष करने की प्रेरणा लेनी चाहिए।

□□

क्या 'महर्षि दयानन्द का अलभ्य शास्त्रार्थ' वास्तव में महर्षि दयानन्द का शास्त्रार्थ है? (2)

(भावेश मेरजा, भरुच, मो0:-09879528247)

पुराने आर्य विद्वानों की दृष्टि में 'रसाला एक आर्य' लाला साईदास की कृति

१. स्वामी श्रद्धानन्द ने अपनी आत्मकथा 'कल्याण मार्ग का पथिक' में लिखा है-

(१) "आर्य सन्मार्ग सन्दर्शिनी सभा कलकत्ता का उत्तर अवश्य खत्रीकुलोत्पन्न लाला साईदास जी ने उर्दू में दिया था।" (पृ. ११८, सार्वदेशिक सभा का संस्करण)

(२) "उस समय तक उन्होंने (साईदास ने) एक उर्दू ट्रेक्ट 'एक आर्य' नाम से लिखा था, जिसमें कलकत्ते के पण्डितों की ऋषि दयानन्द के विरुद्ध दी हुई व्यवस्था की पड़ताल की गई थी।" (वही, पृ. ६७)

२. सत्यार्थ प्रकाश का मास्टर दुर्गाप्रसाद कृत अंग्रेजी अनुवाद का प्रथम संस्करण १९०८ में विरजानन्द प्रेस लाहौर से प्रकाशित हुआ था। इस अनुवाद के आरम्भ में अनुवादक ने स्वामी जी का आत्मकथन तथा स्वलिखित विस्तृत जीवन वृत्तान्त 'Autobiography and Travels of Swami Dayananda Saraswati' शीर्षक से दिया है। उसमें पृष्ठ ५१ पर लिखा है- "The vain display of learning on the part of the meeting produced no effect on the movement of the Arya Samaj. The pandit's answers are imprinted with sophistry on face. His distortion of meaning and insisting more on the authority of modern idolatrous literature of the Brahmins than on that of the Vedas, which form the foundation of the Arya Samaj, were soon detected and ably refuted by our brother, Lala Sain Das, President, Arya Samaj, Lahore, in a pamphlet called the 'Ek Arya', to which the reader is referred, if he is confounded by the fallacious arguments of learned folly." यहाँ दुर्गाप्रसाद ने 'एक आर्य' को लाला साईदास कृत लिखा है और उनकी योग्यता की प्रशंसा 'ably refuted' - 'योग्यतापूर्वक किया गया खण्डन'- इन शब्दों से की है। इससे भी पूर्व 'सत्य धर्म विचार' (चांदापुर का मेला) का दुर्गाप्रसाद के द्वारा किया गया

अंग्रेजी अनुवाद 'Triumph of Truth' का प्रथम संस्करण १८८६ में विरजानन्द प्रेस लाहौर से प्रकाशित हुआ था। इसमें भी पृष्ठ ११० पर 'एक आर्य' को लाला साईदास की ही रचना लिखा गया है। ध्यातव्य है कि दुर्गाप्रसाद का कार्यक्षेत्र लाहौर रहा था।

३. स्वामी श्रद्धानन्द तथा मास्टर दुर्गाप्रसाद में से किसी ने भी 'एक आर्य' का उपर्युक्त स्थान पर उल्लेख करते हुए, इस बात को कोई संकेत नहीं किया है कि यह पुस्तक साईदास ने स्वयं न लिखकर स्वामी जी द्वारा उनसे लिखवाई गई है। ये दोनों महानुभाव साईदास के समकालीन एवं उनसे सुपरिचित थे। इसलिए ये दोनों साईदास के व्यक्तित्व और सामर्थ्य को हमारी अपेक्षा अच्छी तरह से जानते होंगे। आज से लगभग एक शताब्दी से भी कहीं अधिक वर्ष पूर्व हो गए साईदास के लेखन कौशल, बौद्धिक सम्पदा, स्वाध्याय, सत्संग आदि के सम्बन्ध में क्या हम लोग आज ठीक-ठीक अनुमान लगा पाने को सक्षम हैं? उनके मस्तिष्क में क्या-क्या संगृहीत रहा होगा, उसका यथार्थ आकलन क्या हम आज कर सकते हैं?

४. बाबा छज्जूसिंह ने १९०३ में प्रकाशित स्वामी जी के प्रसिद्ध अंग्रेजी जीवनचरित्र 'The Life and Teachings of Swami Dayananda Saraswati' में पृष्ठ ४५६ पर दी गई अपनी एक पाद-टिप्पणी में 'एक-आर्य' को लाला साईदास की कृति बताते हुए लिखा है- "For a full account, see Ek-Arya, an ably written Urdu pamphlet by the late Lala Sain Das." इस वाक्य में 'an ably written' - 'दक्षतापूर्वक लिखा गया'- शब्दों से उन्होंने यह भी प्रकट किया है कि साईदास ने यह पुस्तक योग्यता व निपुणतापूर्वक लिखी है। राजेन्द्र जिज्ञासु ने अपनी भूमिका में बाबा छज्जूसिंह के इसी ग्रन्थ का एक लम्बा उद्धरण तो दिया है, मगर उसी प्रकरण में दी गई लाला साईदास को 'एक आर्य' का लेखक बताने

वाली उपर्युक्त पाद-टिप्पणी का उल्लेख उन्होंने नहीं किया।

५. लाला राधाकिशन द्वारा लिखित ऋषि के उर्दू जीवन चरित में पृष्ठ ३३५-३३६ पर लिखा गया है- "सभा के आक्षेपों का उत्तर एक रसाला 'एक आर्य' में दिये गये हैं। यह रसाला पंजाब के आर्यसमाजों के प्राण लाला साईदास जी प्रधान आर्यसमाज लाहौर की लेखनी से लिखित है।" राजेन्द्र जिज्ञासु ने लाला राधाकिशन का यह प्रमाण अपनी पुस्तक में उद्धृत किया है। (म. द.स. का सम्पूर्ण जीवनचरित्र, भाग-२, पृ. ४६३) ध्यातव्य है कि लाला राधाकिशन ने लाहौर में स्वामी जी का उपदेश श्रवण किया था।

६. स्वामी श्रद्धानन्द, दुर्गाप्रसाद, बाबा छज्जूसिंह तथा लाला राधाकिशन के अतिरिक्त आर्यसमाज के उस प्रारम्भिक काल में अन्य भी कई आर्य विद्वान् पैदा हुए थे, जो उर्दू के ज्ञाता रहे। निश्चित रूप से उन्हीं में से कई ऐसे भी रहे होंगे, जिन्होंने 'रसाला एक आर्य' पढ़ी होगी। राजेन्द्र जिज्ञासु ने यह तो लिखा है कि- "पुराने आर्य लेखकों के उर्दू साहित्य में भी इसकी ('रसाला एक आर्य' की) चर्चा कहीं-कहीं है।" (महर्षि दयानन्द का एक अलभ्य शास्त्रार्थ, पृ. १२) परन्तु उन्होंने यह नहीं बताया कि उन पुराने आर्य विद्वानों में से किसी ने यह लिखा या कहा है कि यह पुस्तक स्वामी जी द्वारा अन्य से लिखवाई गई थी? चलो, मान लेते हैं कि राजेन्द्र जिज्ञासु को प्राप्त हुए 'रसाला एक आर्य' की प्रति के टाईटल पृष्ठ १ व २ साथ नहीं थे, परन्तु पुराने आर्य लेखकों तथा विद्वानों में से तो कई ऐसे रहे होंगे कि जिन्होंने प्रथम दो टाईटल पृष्ठ सहित इस पूरी पुस्तक को देखा एवं पढ़ा होगा और उनमें से कई विद्वानों ने बिना किसी संशय साईदास को इसका लेखक लिखा है। फिर आपने ऐसा निर्णय कैसे ले लिया कि जिन प्रथम दो टाईटल पृष्ठ को आपने देखा ही नहीं है, उनमें कहीं पर भी लेखक का नाम नहीं छपा था? यह कैसा अनुसंधान है?

७. इन्टरनेट पर उपलब्ध 'Selections from the records of the Government of India', में लिखा गया है- "Ek Arya is a controversial pamphlet written

by Lala Sain Das, giving replies to objections raised against the Arya Samaj by the Arya Sanmarg Sandarshani Sabha, Calcutta." अर्थात् "एक आर्य" लाला साईदास द्वारा लिखी गई एक विवादास्पद पुस्तिका है, जिसमें कलकत्ता की आर्य सन्मार्ग सन्दर्शिनी सभा द्वारा आर्यसमाज के विरुद्ध उठाई गई आपत्तियों का उत्तर है।" (Selections from the records of the Government of India, Several Provinces of British India, 1884, Oxford University, p. 202)

८. राजेन्द्र जिज्ञासु ने लिखा है- "श्री हरविलास शारदा ने भी लाला साईदास द्वारा ही उत्तर देना लिखा है, परन्तु विशेष आग्रह के साथ नहीं। (म.द.स. का सम्पूर्ण जीवनचरित्र, भाग-२, पृ. ४६४) परन्तु यहाँ विशेष आग्रह के साथ लिखने की आवश्यकता ही कहाँ थी? हरविलास शारदा ने तो यहाँ स्पष्ट लिखा है- "These questions, were, however, answered later on behalf of the Arya Samaj by Lala Saindas, President of the Arya Samaj Lahore in a pamphlet entitled 'Ek Arya'. (Life of Dayananda Saraswati, p. 257) अर्थात् "इन प्रश्नों के आर्यसमाज की ओर से उत्तर बाद में आर्यसमाज लाहौर के प्रधान लाला साईदास के द्वारा 'एक आर्य' नामक पुस्तिका के रूप में दिए गए थे।" इसी प्रकार आर्यसमाज के अनेक प्रसिद्ध व्यक्तियों ने 'रसाला एक आर्य' को बिना किसी सन्देह किए साईदास की कृति माना ही है।

९. पण्डित देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय संगृहीत जीवनचरित में केवल इतना लिखा है- "आर्यसमाज की ओर से इन सब प्रश्नों का उत्तर युक्ति और प्रमाण द्वारा दिया गया था, जो पण्डित लेखराम कृत जीवन-चरित में सविस्तार छपा है।" (पृ. ५४४, संस्करण २०५० वि.) ये उत्तर स्वामी जी द्वारा किसी अन्य से लिखवाये जाने की कोई बात देवेन्द्रनाथ संगृहीत जीवनचरित में भी कहीं नहीं लिखी गई है।

१०. डॉ० भवानीलाल भारतीय ने नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती में लिखा है- "परन्तु यह ज्ञात नहीं होता कि आर्यसमाज के मत को प्रस्तुत करने वाला कौन था अथवा यह मत सर्वप्रथम लिखित रूप में कब एवं किस माध्यम से प्रस्तुत किया।" (भाग-२, पृ. ७६८) परन्तु आगे अपने इसी वाक्य पर दी गई पाद-टिप्पणी

में उन्होंने स्पष्ट लिखा है- “आर्यसमाज लाहौर के मन्त्री लाला साईदास ने ‘एक आर्य’ शीर्षक पुस्तक लिख कर कलकत्ता की इस सभा की कार्यवाही की आलोचना लिखी थी।” (वही, पृ. ८०७) १९६१ में प्रकाशित आर्य लेखक कोश में भी उन्होंने लिखा है- “१२ फरवरी (सही दि. २२ जनवरी) १८८१ को जब कलकत्ता में पौराणिक पण्डितों ने आर्य सन्मार्ग सन्दर्शिनी सभा के नाम से एक बैठक बुला कर स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों के प्रतिकूल व्यवस्थाएं दीं, तो उसके उत्तर में लाला साईदास ने ‘रसाला एक आर्य’ पुस्तक उर्दू में लिखी और पौराणिक विद्वानों की धारणाओं का तीव्र प्रतिवाद किया। यह पुस्तक ही लाला साईदास की एक मात्र साहित्यिक कृति कही जा सकती है।” (पृ. ३२४-३२५)

‘रसाला एक आर्य’ के अन्तरंग विचारणीय स्थान स्वयं ‘रसाला एक आर्य’ (महर्षि दयानन्द का अलभ्य शास्त्रार्थ) में कुछ स्थान ऐसे पाए जाते हैं, जिन्हें पढ़कर कोई भी इसे स्वामी दयानन्द द्वारा अन्य से लिखवाई कृति नहीं मान सकते। जैसे कि-

१. दूसरे उत्तर में ‘भारतीय इतिहास’ शब्दों का प्रयोग किया गया है। स्वामी जी के साहित्य में इन शब्दों का प्रयोग प्रायः कहीं देखने को नहीं मिलता। वे भारतीय के स्थान पर प्रायः आर्यावर्तीय शब्द का प्रयोग करना पसन्द करते थे।

२. प्रत्युत्तर में आर्य सन्मार्ग सन्दर्शिनी सभा के लिए ‘हमारी विदुषी सभा’, ‘हमारी सत्यान्वेषी सभा’, ‘हमारी भोली सभा’, ‘हमारी इस प्रतिष्ठित सभा’, ‘हमारी उच्च मस्तिष्क वाली सभा’, ‘हमारी विद्वानों की यह परिषद्’, ‘ऐ मेरी अन्वेषिणी सभा’, ‘ऐ मेरी प्यारी सभा’, ‘हमारी मान्य सभा’, ‘हे मेरी महान् सभा’, ‘हमारी प्रिय सभा’ इत्यादि शब्दों का अनेक स्थान पर प्रयोग किया गया है। ऐसा लिखना स्वामी जी की शैली नहीं हो सकती।

३. दूसरे उत्तर में किसी सूफी फारसी कवि का एक पद्य (‘लव पे बन्दो चश्म...’) लिखा गया है। यह स्वामी जी के लेखन का लक्षण नहीं है।

४. पंचम उत्तर के अन्त में ‘सीन०’ लिखा गया है। इस पर स्वयं राजेन्द्र जिज्ञासु ने पाद-टिप्पणी देते

हुए लिखा है- “पुस्तक में कहीं भी लेखक ने तो अपना नाम नहीं दिया। उर्दू के इस सीन अक्षर (स) से लेखक का नाम साईदास अभिप्रेत है।” (वही, पृ. ७६)

५. प्राक्कथन के अन्तिम पैरा में लिखा है- “ऐसी बृहत् सभा की ऐसा कार्यवाही के बारे में विचार-विमर्श करना लाभरहित नहीं है। यही कारण है कि हमें लेखनी उठाने की आवश्यकता अनुभव हुई और इस रसाला (पुस्तक) के लिखने की प्रेरणा हुई। वह कार्यवाही ‘आर्य दर्पण’ पत्रिका से अक्षरशः आगे दी जाती है और उसके पश्चात् उसका उत्तर लिखा जायेगा। क्योंकि इस पुस्तक का लेखक एक आर्य- एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर का मानने वाला है, इसलिये इस पुस्तक का नाम भी ‘एक आर्य’ रखा गया है।” (वही, पृ. २१)

६. पुस्तक में दो स्थान पर तत्कालीन ब्रिटिश शासन की स्तुति करते हुए लिखा है-

(१) “इसके अतिरिक्त वर्तमान सरकार का शासनकाल भी तेरे (भारत माता के) लिये एक ईश्वरीय कृपा का उदाहरण सिद्ध हुआ है, जिसने तेरी मरुभूमि में शान्ति व स्वतन्त्रता की नदी प्रवाहित कर दी है।” (वही, पृ. ८०)

(२) “इसी बात का उदाहरण अंग्रेज सरकार के शुभ शासन में जो भारत के लिये एक बहुत बड़ा वरदान और अप्रत्याशित देन सिद्ध हुआ है, चारों ओर स्वतन्त्रता का लाभ प्राप्त हो रहा है।” (वही, पृ. ५६) स्वाधीनता के मन्त्रदृष्टा स्वदेश-भक्त स्वामी जी अपने देश पर शासन करने वाले विदेशी शासन के लिए क्या ऐसी बातें लिख या लिखवा सकते हैं?

७. पुस्तक में “वास्तव में इसका (मूर्तिपूजन का) प्रचलन बौद्धकाल से हुआ है”- ऐसा लिखा गया है। (वही, पृ. ५७) ‘बौद्धकाल’ जैसे शब्द का प्रयोग स्वामी जी के ग्रन्थों में प्रायः नहीं पाया जाता है। वे मूर्ति- पूजा का जनक जैन मत को मानते व लिखते थे, जैसा कि सत्यार्थ प्रकाश आदि में लिखा है।

८. “कुछ एक ने तो स्वामी जी की निन्दा करना ही अपना ध्येय बना रखा है कि कदाचित् इसी से परलोक सुधर जाय।” (वही, पृ. ३७)

९. ‘रसाला एक आर्य’ में एक स्थान पर लिखा

गया है- “हे मेरी महान् सभा! तेरी महानता व विद्वता में तो किसी को भी सन्देह नहीं हो सकता, परन्तु मैं इस बात पर दंग हूँ कि तेरी कार्यवाही ऐसी क्यों निकली कि उसके खण्डन करने के लिये एक साधारण व्यक्ति लेखनी उठाने को उद्यत हुआ है।” (वही, पृ० ५६) इस वाक्य से यही प्रतीत होता है कि स्वयं को ‘एक साधारण मनुष्य’ लिखने वाले व्यक्ति ने ये उत्तर लिखे हैं, स्वामी जी ने नहीं।

१०. ‘रसाला एक आर्य’ में एक स्थान पर लिखा है- “हमको ज्ञात नहीं कि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी इसका (‘स परिन्दमन्वावर्तते...’ - सामवेद के ब्राह्मण के इस वाक्य का) क्या अर्थ करते हैं?” (वही, पृ० ५२) इस वाक्य से तो स्पष्ट हो जाता है कि इसके लेखक स्वामी जी नहीं हैं, किन्तु कोई अन्य व्यक्ति है। क्योंकि स्वामी जी तो इस वाक्य का अर्थ तथा यथार्थ स्थिति जानते ही थे, जैसा कि युधिष्ठिर मीमांसक ने लिखा है- “ऋ. द. ने काशी-शास्त्रार्थ में इस प्रकरण का विवेचन किया था।” (ऋ.द.स. के पत्र और विज्ञापन, भाग-२, पृ. ८८२, पाद-टिप्पणी)

११. पुस्तक में मूर्तिपूजा और मृतक श्राद्ध आदि के खण्डन में श्रीमद् भागवत् के प्रमाण उद्धृत किए गए हैं। स्वामी जी के साहित्य में स्व-पक्ष की सिद्धि में पुराणों के प्रमाण नहीं पाए जाते हैं।

१२. पुस्तक में ‘स्वामी जी कहते हैं.....’, ‘स्वामी जी सिखाते हैं’, ‘स्वामी दयानन्द ... कहते हैं’, ‘स्वामी जी मानते हैं...’- ऐसे-ऐसे वाक्य पाए जाते हैं, जिनसे यही सिद्ध होता है कि यह पुस्तक स्वामी जी द्वारा नहीं बल्कि किसी अन्य द्वारा लिखित है।

१३. इस पुस्तक में ‘एक सामान्य निष्कर्ष’ प्रकरण में ‘हे वृद्ध भारत माता’, ‘हे भारत माता!...’, ‘स्वास्थ्य लाभ प्राप्त करके तुम्हें (भारत माता) आशीर्वाद दे’ तथा ‘पुत्रो! रोगी (भारत) माता की सुधि लो’- इत्यादि शब्दों का प्रयोग हुआ है। इससे सिद्ध होता है कि यह पुस्तक स्वामी जी ने नहीं लिखी-लिखवाई है, बल्कि किसी अन्य द्वारा तैयार की गई है। स्वामी जी ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं करते थे।

१४. ‘रसाला एक आर्य’ में उसी ‘भारत माता’ को

लक्ष्य कर स्वामी जी की स्तुति करते हुए लिखा गया है- “करुणासागर की करुणा कष्ट के पश्चात् अवश्य बरसती है। बिगाड़ के पश्चात् सुधार भी होता है। शुद्ध-पवित्र पालक प्रभु ने तेरे बुढ़ापे पर- निर्बलता पर दया करके तेरे प्राचीन वैभव व कीर्ति की पुनः स्थापना के लिये तेरी सन्तान में से एक योगी महर्षि जन उत्पन्न कर दिया है और यह तेरा वह सौभाग्यशाली सपूत इस बात के लिये समर्पित है कि यदि आवश्यकता पड़ी, तो ब्रह्मलोक से अमृत की गंगा लाने को भी तत्पर है। यद्यपि उसके मार्ग में कई रुकावटें हैं, परन्तु वह नर-नाहर घबराने वाला नहीं।... मैं चकित हूँ कि तेरे बच्चे दयानन्द से क्यों घबराते हैं?... और यदि दयानन्द का कोई दोष है, तो बस यह है कि वह उनको (लोगों को) पुनः सनातन वेदोक्त धर्म की ओर लाया है और ला रहा है।” (म.द. का एक अलभ्य शास्त्रार्थ, पृ. ७६-८०) स्वामी जी स्वयं के लिए ऐसी बातें कभी नहीं लिखते थे और न किसी अन्य से लिखवाते थे। इन वाक्यों से यही सिद्ध होता है कि यह पुस्तक स्वामी जी के किसी वृद्ध एवं सुज्ञ अनुयायी भक्त द्वारा लिखी गई है। ऐसे में इसे स्वामी जी का शास्त्रार्थ कैसे माना जा सकता है?

पण्डित लेखराम संगृहीत जीवनचरित्र में स्रोत का निर्देश नहीं

पण्डित लेखराम द्वारा संगृहीत जीवनचरित्र में सन्दर्शिनी सभा की कार्यवाही विषयक सामग्री तथा समाचार को सार-सुधानिधि, हिन्दू पैट्रियट, भारतमित्र, इण्डियन डेली न्यूज़, बिहारशास्त्र, आर्यदर्पण आदि में प्रकाशित होने का उल्लेख तो किया गया है, परन्तु आर्यसमाज की ओर से दिए गए प्रत्युत्तर किस स्रोत से लिए गए हैं, इसका कोई भी निर्देश उसमें नहीं पाया जाता है। यह भी उल्लेखनीय है कि पण्डित लेखराम द्वारा संगृहीत जीवनचरित्र में दी गई ‘स्वामी जी की रचनाएं’ की सूची में भी ‘रसाला एक आर्य’ का उल्लेख नहीं किया गया है।

पण्डित लक्ष्मण आर्योपदेशक का मत?

राजेन्द्र जिज्ञासु ने लिखा है- “हमने सन् १८८४ के आसपास के ‘आर्य समाचार’ मेरठ के अंकों में इस

प्रत्युत्तर की चर्चा पढ़कर इसकी सघन खोज आरम्भ की। श्री पं. लेखराम जी के ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख है। पुराने आर्य लेखकों के उर्दू साहित्य में भी इसकी चर्चा कहीं-कहीं है।" (म.द.स. का सम्पूर्ण जीवनचरित्र, भाग २, पृ. ४६१) यह तो ठीक है, परन्तु विचारणीय बात तो यह है कि क्या आज पर्यन्त किसी भी पुराने आर्य विद्वान् ने 'रसाला एक आर्य' को या आर्य सन्मार्ग सन्दर्शिनी सभा को दिए गए प्रत्युत्तर को स्वामी जी का लेख या कृति सिद्ध करने का अथवा इसे स्वामी जी का शास्त्रार्थ बताने का प्रयास किया है? क्या पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी, पण्डित लेखराम, स्वामी श्रद्धानन्द, स्वामी दर्शनानन्द, स्वामी वेदानन्द, पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय, प्रो. महेशप्रसाद मौलवी, पण्डित भगवद्दत्त जैसे किसी भी विद्वान् ने इस पुस्तक की गणना स्वामी जी के शास्त्रार्थों या रचनाओं में कहीं की है? आज 'रसाला एक आर्य' का ऐसा कौन-सा प्रमाण हाथ लग गया है कि जिसके बल पर इसे स्वामी जी के शास्त्रार्थों में सम्मिलित कर लिया गया है?

लक्ष्मण आर्योपदेशक लिखित उर्दू जीवनचरित्र मूलतः पण्डित लेखराम संगृहीत उर्दू जीवनचरित्र के आधार पर ही लिखा गया ग्रन्थ है। पण्डित लेखराम संगृहीत जीवनचरित्र में तो आर्य सन्मार्ग सन्दर्शिनी सभा विषयक प्रश्नोत्तर का पर्याप्त विवरण दिया गया है, परन्तु लक्ष्मण आर्योपदेशक ने अपने ग्रन्थ में इस विषय में क्या कुछ लिखा है, इसकी कुछ भी जानकारी राजेन्द्र जिज्ञासु द्वारा किए गए इसके हिन्दी अनुवाद 'महर्षि दयानन्द सरस्वती का सम्पूर्ण जीवनचरित्र' से प्राप्त नहीं होती है; क्योंकि इसमें इस आर्य सन्मार्ग सन्दर्शिनी सभा विषयक सम्पूर्ण प्रकरण तो राजेन्द्र जिज्ञासु ने अपनी ओर से ही लिखकर दूसरे भाग के पृ. ४६० से लेकर ५०४ तक समाविष्ट किया हुआ है। इसलिए लक्ष्मण आर्योपदेशक का एतद् विषयक अभिप्राय उनके ग्रन्थ के इस हिन्दी अनुवाद से जाना ही नहीं जा सकता है।

अनुभ्रमोच्छेदन ग्रन्थ की स्थिति

स्वामी जी के भ्रमोच्छेदन ग्रन्थ के उत्तर में राजा शिवप्रसाद ने द्वितीय निवेदन नामक पुस्तक प्रकाशित की थी। स्वामी जी ने इसका उत्तर अनुभ्रमोच्छेदन ग्रन्थ

के रूप में लिखकर प्रकाशित करवाया था। परन्तु इसे स्वयं लिख या लिखवाकर भी स्वामी जी ने इसको अपने नाम से प्रसिद्ध नहीं किया था। जैसे यह तथ्य ग्रन्थ की रचना शैली और स्वामी जी के पत्रादि तथा अनुभ्रमोच्छेदन के प्रथम संस्करण के अन्तिम पृष्ठ पर वैदिक यन्त्रालय के तत्कालीन प्रबन्धकर्त्ता लाला सादीराम की ओर से छपे विज्ञापन द्वारा प्रामाणिक है, वैसे ही अगर यह प्रामाणिक सिद्ध होता है कि 'रसाला एक आर्य' भी स्वामी जी का लिखा-लिखवाया गया है, तब तो बात ठीक थी। परन्तु बिना किसी प्रमाण यह स्थापित करने का उद्योग करना कि 'रसाला एक आर्य' स्वामी जी द्वारा रचित है, सर्वथा अनुचित प्रयास माना जाएगा।

'रसाला एक आर्य' की प्राप्ति- एक बहाना

एक दृष्टि से देखा जाए तो 'रसाला एक आर्य' का प्रथम हिन्दी अनुवाद तो पण्डित लेखराम द्वारा संगृहीत उर्दू जीवनचरित्र के १९७१ ई० में आर्यसमाज नया बांस दिल्ली से प्रकाशित पण्डित रघुनन्दन सिंह निर्मल द्वारा किए गए हिन्दी अनुवाद के माध्यम से हमें उपलब्ध हो ही गया था। युधिष्ठिर मीमांसक तथा राजेन्द्र जिज्ञासु दोनों पण्डित लेखराम द्वारा संगृहीत इस जीवनचरित्र के हिन्दी अनुवाद के माध्यम से इन उत्तरों से सुपरिचित थे। फिर भी इसके बल पर दोनों में से किसी ने भी सैद्धान्तिक रूप से यह प्रतिपादित करने का निर्णय या साहस नहीं किया कि ये उत्तर स्वामी जी के द्वारा ही लिखवाए गए हैं। युधिष्ठिर मीमांसक ने भी इस बात की केवल सम्भावना या अनुमान ही प्रकट किया था, प्रतिपादन नहीं किया था। परन्तु उनके देहावसान (२४ जून १९६४) के पश्चात् राजेन्द्र जिज्ञासु को 'रसाला एक आर्य' पुस्तक प्राप्त हो गई और उन्होंने युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा प्रकट की गई उपर्युक्त सम्भावना या अनुमान को बिना किसी प्रमाण के एक ऐतिहासिक सत्य के रूप में प्रतिपादित करने का मन बना लिया और इसे महर्षि दयानन्द का एक अलभ्य शास्त्रार्थ नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित कर दिया। परन्तु वास्तविकता यह है कि 'रसाला एक आर्य' के इस हिन्दी अनुवाद में पण्डित लेखराम द्वारा संगृहीत जीवनचरित्र के हिन्दी अनुवाद में उपलब्ध एतद् विषयक सामग्री से अतिरिक्त ऐसी कोई

नवीन निर्णायक जानकारी नहीं है कि जिसकी सहायता से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सके कि ये उत्तर स्वामी जी द्वारा अन्य से लिखावाए गए हैं। इसलिए 'रसाला एक आर्य' की प्राप्ति तो एक बहाना लगता है- इसे स्वामी जी का शास्त्रार्थ बताने का।

लाला साईदास के अवदान के प्रति अन्याय

जिस व्यक्ति (साईदास) का नाम आरम्भ से लेकर आज पर्यन्त 'रसाला एक आर्य' के लेखक के रूप में चला आया है, और कई पुरानी पुस्तकों में भी ऐसा ही उल्लेख पाया जाता है, उस व्यक्ति की भूमिका को बिना किसी ठोस प्रमाण केवल स्वानुमान या कल्पना के आधार पर नकारते हुए, उस व्यक्ति में इसे स्वतन्त्र रूप से लिखने की योग्यता नहीं थी, ऐसा प्रकाशित करना क्या उनकी प्रतिष्ठा तथा व्यक्तित्व के प्रति अन्याय नहीं है? क्या यह एक प्रकार से जबरदस्ती नहीं है? हाँ, अगर साईदास ने 'रसाला एक आर्य' में या अन्यत्र कहीं ऐसा कुछ संकेत किया होता कि यह पुस्तक मैंने स्व-सामर्थ्य से न लिखकर स्वामी जी से या किसी अन्य विद्वान् से लिखाई है, तो यह बात अवश्य भिन्न होती; परन्तु ऐसा तो उन्होंने कुछ भी लिखा नहीं है। स्वामी श्रद्धानन्द ने साईदास के सम्बन्ध में लिखा है- "लाला साईदास जी उस समय आर्यसमाज लाहौर के स्वामी समझे जाते थे।... लाहौर आर्यसमाज की और उसके साथ पंजाब के सारे आर्यसमाजों की- जिनका जीवन इस समय लाहौर आर्यसमाज पर ही निर्भर था- सारी कला के संचालक लाला साईदास जी ही थे। इस शक्ति तथा अधिकारों को वे ही लोग जानते हैं, जिन्हें लाला साईदास जी से अधिक वास्ता पड़ता था।... इतिहास के वे अवतार थे और विशेषतः ईसाइयों के धार्मिक इतिहास के अतिरिक्त मुसलमानों और सिक्खों के इतिहास से भली प्रकार अभिज्ञ थे।" (कल्याण मार्ग का पथिक, पृ. ६७-६८, सार्वदेशिक सभा का प्रकाशन) इतना ही नहीं, उनकी मृत्यु पर लाला लाजपतराय ने लिखा था- "हाय! पण्डित गुरुदत्त के मरने से तो हम वे-उस्ताद हो गए थे मगर लाला साईदास के मरने से हम यतीम हो गए।" (पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी, ले० डा० रामप्रकाश, पृ० १५, पाद-टिप्पणी)

चिन्ता की बात

अब इस 'रसाला एक आर्य' को स्वामी जी के शास्त्रार्थ-संग्रह में समाविष्ट कर देने से इस बात की पूरी सम्भावना है कि पाठक उसे भी स्वामी जी के अन्य वास्तविक शास्त्रार्थों के समान प्रामाणिक मानने की भ्रान्ति में पड़ेगा और उसे स्वामी जी के अन्य सत्यार्थ प्रकाश आदि ग्रन्थस्थ मन्तव्यों के समान ही ग्रहण करेगा। इसलिए उचित एवं न्यायपूर्ण यही है कि जब तक किसी प्रमाण के आधार पर यह सिद्ध नहीं होता कि आर्य सन्मार्ग सन्दर्शिनी सभा के प्रश्नों का जो उत्तर 'रसाला एक आर्य' में दिया गया है, वह स्वामी दयानन्द द्वारा अन्य से लिखावाया गया है, तब तक उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर लाला साईदास को ही उसका लेखक या सम्पादक मानना चाहिए। इस पुस्तक में वर्णित बातों को स्वामी दयानन्द के विचार, लेख या शास्त्रार्थ मानकर प्रस्तुत नहीं करना चाहिए। किसी को भी साईदास की बौद्धिक क्षमता तथा उनके लेखन एवं सम्पादन सम्बन्धी सामर्थ्य का स्वरूप अनुसार आकलन करने का आग्रह नहीं करना चाहिए। युधिष्ठिर मीमांसक हो या राजेन्द्र जिज्ञासु या अन्य कोई, किसी का व्यक्तिगत अनुमान या धारणा प्रमाण का विकल्प नहीं हो सकती। इसलिए स्वामी दयानन्द जैसे ऋषि के नाम पर किसी अन्य व्यक्ति के विचार या लेख को प्रसारित करने से बचना चाहिए। अगर हम इस प्रकार के साहित्यिक प्रदूषण की रोकथाम नहीं करेंगे, तो आगे चलकर कई नई-नई समस्याएँ खड़ी हो सकती हैं। आशा है कि स्वामी दयानन्द की उत्तराधिकारिणी सभा, आर्यसमाज के विद्वान् तथा जागरूक पाठक इस चिन्ता को ठीक से समझ पाएँगे और स्वामी दयानन्द सदृश ऋषि आत्मा के लेखों की पवित्रता को आने वाले युगों के लिए अक्षुण्ण बनाए रखने में पर्याप्त सावधानी रखेंगे।

(सम्पादकीय टिप्पणी : प्रस्तुत विषय में लेखक का यह लेख बिना किसी पूर्वाग्रह के केवल इस दृष्टि से प्रकाशित किया जा रहा है कि सत्यता सामने आये। यदि हमें इसका कोई प्रमाणपूर्वक उत्तर प्राप्त होगा, तो हम उसे भी प्रकाशित करेंगे, जिससे पाठक सत्यासत्य का निर्णय कर सकें)

आर्य पर्व दीपावली का सन्देश

(पं. नन्दलाल निर्भय, सिद्धान्ताचार्य पत्रकार, पलवल)

आती है हर वर्ष दिवाली, ऋषि की याद दिलाने को।

स्वामी दयानंद आए थे, वैदिक नाद बजाने को॥

सत्य सनातन वेद धर्म को, भूल गए थे नर-नारी।

अविद्या रूपी अंधकार में, भटकी थी दुनियाँ सारी॥

छुआ-छात की, ऊँच-नीच की, फैल गई थी बीमारी।

ईश्वर पूजा विसरा दी थी, पत्थर पूजा थी जारी॥

भटक रहे थे नर-नारी, ईश्वर के दर्शन पाने को।

स्वामी दयानंद आए थे, वैदिक नाद बजाने को॥ १॥

पनप गई थी फूट भयंकर, फैला था मतवाद यहाँ।

छोटी-छोटी बातों पर, होती थी रोज फसाद यहाँ॥

समझदार कम थे, ज्यादा थी मूर्खों की तादाद यहाँ।

इसीलिए तो यवन ईसाई, दुश्मन थे आबाद यहाँ॥

तरस रही थी इस भारत की जनता दाने-दाने को।

स्वामी दयानंद आए थे, वैदिक नाद बजाने को॥ २॥

ऋषियों-मुनियों के भारत में, गऊएँ मारी जाती थीं।

लाखों विधवाएँ बेचारी, हाय-हाय डकराती थीं॥

बाल-विवाह, अनमेल-विवाह की, प्रथा थी तब जोरों पर।

धर्म-कर्म की जुम्मेदारी थी, पाखण्डी चोरों पर॥

भूल गए थे नर-नारी, अपने इतिहास पुराने को।

स्वामी दयानन्द आए थे, वैदिक नाद बजाने को॥ ३॥

ईश्वर कृपा से भारत में, स्वामी दयानंद आए।

किया वेद प्रचार रात-दिन, कभी न ऋषिवर दहलाए॥

गऊ माता को पूज्य बताया, निर्बल निर्धन अपनाए।

अंग्रेजों को मार भगाओ, भारतवासी समझाए॥

“पराधीनता पाप जगत में”, आए थे समझाने को।

स्वामी दयानंद आए थे, वैदिक नाद बजाने को॥ ४॥

आज करोड़ों पाखण्डी, इस देव भूमि में घूम रहे।

ऊँचे-ऊँचे भवन ठगों के, आशमान को चूम रहे॥

ईश्वर पूजा छुड़वाकर, अपनी पूजा नित करा रहे।

ईश्वर से हे गुरु बड़ा, भोली जनता को डरा रहे॥

वेद सभ्यता संस्कृति को, फिरते दुष्ट मिटाने को।

स्वामी दयानंद आए थे, वैदिक नाद बजाने को॥ ५॥

जगत गुरु ऋषि दयानंद के, वीर सैनिको! जागो तुम।
 करो परस्पर मेल आर्यो ! कलह-फूट को त्यागो तुम।।
 करो वेद प्रचार आर्यो ! अविद्या रूपी हरो।
 लेखराम ऋद्धानंद बनकर, मित्रो ! परोपकार करो।।

“नंदलाल निर्भय” चौंका दो, वीरों! सकल जमाने को।
 स्वामी दयानंद आए थे, वैदिक नाद बजाने को।। ६।।



पृष्ठ २ का शेष

शिवपुराण शतरुद्र सं० अ० २५ श्लोक १३ से ३० तक।

ब्रह्मा, विष्णु और शिवजी तीनों ने अत्रि ऋषि की पत्नी अनुसूइया के साथ अत्यन्त घृणित कुवेष्टाएं कीं।

देखिये - भविष्यपुराण प्रतिसर्ग पूर्वखण्ड ४, अध्याय १७ श्लोक ६७ से ७५ तक।

मैं आपको आज एक या दो नहीं अनेकों प्रमाण दूंगा और तब तक देता रहूंगा जब तक शास्त्री जी अच्छी तरह छक न जायें और मना न करने लगें।

बीच में ही उठकर श्री पं० गोकुल चन्द जी शास्त्री कहने लगे- बस महाराज इतने ही प्रमाण बहुत हैं।

श्री ठाकुर अमर सिंह जी ने अन्त में कहा - माननीय शास्त्रीजी!

आपने यह कहा कि ब्रह्मा, विष्णु और शिवजी की भिन्न-भिन्न पुराणों के भिन्न-भिन्न स्थलों में जो एक दूसरे से बढ़ाकर प्रशंसा लिखी है। वह तो “जिसका विवाह उसके गीत” हैं। यदि आपकी यह बात भी मान ली जाये, तो भी तो वह तीन पृथक-पृथक सिद्ध हुए।

मेरा तो प्रश्न यह है कि इन तीनों-में से किसको परमेश्वर माना जाए? जब परमेश्वर का निश्चय ही नहीं तो अवतार किसका सिद्ध करोगे। मैंने तो सिद्ध कर दिया कि ईश्वर का अवतार किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं हो सकता, शास्त्रार्थ का समय तो समाप्त हो गया। और नियमानुसार मुझे ही अन्त में बोलना था, शास्त्री जी आपको तो अन्तिम भाषण हो चुका, तो भी यदि आप कुछ कहना चाहें तो मैं कोई आपत्ति नहीं उठाऊंगा।

आप कुछ कहना चाहें तो कहें।

श्री पं० गोकुल चन्द जी शास्त्री

मैं शास्त्रार्थ के अन्त में आर्य पण्डित को धन्यवाद देता हूं कि उन्होंने मेरा बोलना का अधिकार न रहने पर भी मुझको अपनी उदारता से बोलने का अधिकार दिया है। मैं उनका हार्दिक धन्यवाद करता हूं। और आगे कुछ न चाहता हुआ यह ही कहता हूं कि पुराणों के सारे प्रमाण तथा मेरे दिए हुए वेद मन्त्रों के अर्थ भी मेरे लिए सर्वथा नए हैं। मैं इन सब पर फिर विचार करूंगा।

निवेदन इतना ही है कि सनातन धर्म के अवतारवाद विधायक पक्ष को अभी सर्वथा खण्डित हुआ न माना जावे, मुझको बहुत कुछ नई बातें मिली हैं। उन पर विचार करूंगा श्री पं० जी मेरे लिए शुभकामना ही करेंगे ऐसी मुझको आशा है।

श्री ठाकुर अमरसिंह जी शास्त्रार्थ केशरी

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि पण्डित जी हठ, दुराग्रह रहित तथा निष्कपट हैं एवं विद्वान तथा सज्जन साधु स्वभाव वाले हैं। सनातन धर्मी भाई इनको बहुत श्रद्धा के साथ लाये हैं। मैं उनसे प्रार्थना करता हूं कि, श्री शास्त्री जी को उसी प्रकार श्रद्धा और प्रेम के साथ ले जायें, पण्डित जी में कोई कमी नहीं है। वास्तविकता यह है, कि अवतारवाद का मानना सर्वथा अनुचित है। इसको कोई भी सत्य सिद्ध कर ही नहीं सकता, मैं श्री पं० जी के लिए यह शुभ कामना करता हूं कि वह परमेश्वर की कृपा से अवतारवाद के मिथ्या मत को छोड़कर सत्य सनातन वैदिक धर्म के मानने वाले बन जायें।



आर./आर. नं० १६३३०/६७

Post in Delhi R.M.S

०५-११/११/२०१७

भार- ४० ग्राम

नवम्बर 2017

रजिस्टर्ड नं० DL (DG -11)/8029/2015-17

लाइसेन्स नं० यू (डी०एन०) १४४/२०१५-१७

Licenced to post without prepayment

Licence No. U (DN) 144/2015-17

पाठकों से निवेदन

1. अपने पत्रों में अपनी ग्राहक संख्या अवश्य ही लिखा करें, अन्यथा कार्यवाही सम्भव नहीं होगी।
2. १५ तारीख तक प्रतीक्षा करके ही दुवारा अंक मँगाएं, यदि अंक न पहुँचा हो।
3. यदि आप अपना पता बदलवायें तो यह ध्यान रखें कि बदले हुए पते पर अंक-प्रेषण एक माह बाद आरम्भ होगा।
4. अंक के रेपर पर अपना पता चैक कर लिया करें। यदि कोई त्रुटि हो, तो सूचना दे दिया करें।
5. जिन ग्राहकों का शुल्क समाप्त है, अविलम्ब भेजने की कृपा करें।

कोश्वरू

भारत में फैले सम्प्रदायों की निष्पक्ष व तार्किक समीक्षा के लिए उत्तम कागज़, मनमोहक जिल्द, सुन्दर आकर्षक छपाई एवं (द्वितीय संस्करण से मिलान कर शुद्ध प्रामाणिक संस्करण)

सत्य के प्रचारार्थ

सत्यार्थ प्रकाश

सत्य के प्रचारार्थ

● प्रचार संस्करण (अजिल्द) 23×36÷16	मुद्रित मूल्य 50 रु.	प्रचारार्थ 30 रु.	प्रचारार्थ मूल्य पर कोई कमीशन नहीं
● विशेष संस्करण (सजिल्द) 23×36÷16	मुद्रित मूल्य 80 रु.	प्रचारार्थ 50 रु.	
● स्थूलाक्षर सजिल्द 20×30÷8	मुद्रित मूल्य 150 रु.		प्रत्येक प्रति पर 20% कमीशन

10 या 10 से अधिक प्रतियाँ लेने पर विशेष अतिरिक्त कमीशन

कृपया, एक बार सेवा का अवसर अवश्य दें और महर्षि दयानन्द की अनुपम कृति सत्यार्थ प्रकाश के प्रचार प्रसार में सहभागी बनें

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट

427, मन्दिर वाली गली, खारी बावली, दिल्ली-6

Ph.: 011-43781191, 09650622778

E-mail: aspt.india@gmail.com

दयानन्दसन्देश ● नवम्बर २०१७ ● २८

— दिनेश कुमार शास्त्री
कार्यालय व्यवस्थापक
मो०-९६५०५२२७७८

श्री सेवा में

ग्राम

डा०

जिला

छपी पुस्तक/पत्रिका

मुद्रक, प्रकाशक व सम्पादक धर्मपाल आर्य, स्वामित्व आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, ४२७, गली मन्दिर वाली, नया बांस, खारी बावली, दिल्ली-११०००६ से प्रकाशित एवं तिलक प्रिंटिंग प्रेस, २०४६, बाजार सीता राम, दिल्ली-११०००६ से मुद्रित।